शाद्वल

लालधर त्रिपाठी

१६४०

प्रकाशक—
'साहित्योद्यान'
७० विक्टोरिया पार्क, काशी ।

प्रथम संस्करण
मूल्य १)

मुद्रक—
बजरंगबली 'विशारद'
श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी काशी ।

जीवन के उन्माद ने, विश्व की प्रतारणा ने, अभिलाषाओं की उलझन ने मौन-भङ्ग करने पर बाध्य किया ही ! चाहता तो था कि चुप रहूँ पर न रह सका। लेखनी अलग थी, काग़ज़ अलग; पर न जाने कब दोनों मिल गए ! कैसे, कुछ पता नहीं !

मित्रों की दृष्टि पड़ी, मेरे पागलपन पर ! मैं सदा प्रयत्न करता रहा, उसको छिपाने का, पर इनकी आँखों से बचना भी तो कठिन। क्या करूँ ? अनुरोध की रक्षा करनी ही पड़ी, विवश होकर। मैं इसे कहा तो करता हूँ अपना और अपने को इससे

अलग कर भी नहीं सकता, पर ये भी इसे अपना ही कहकर पुकारते हैं; तो क्या हम दोनों एक ही हैं ? जो हो, पर मैं इसके लिए 'असम्भव' शब्द मुँहपर लाने का साहस भी नहीं कर सकता। हाँ, तो लीजिए, जो कुछ है, आपके सामने है। जब आप मानते ही नहीं तो मैं क्या करूँ ?

हाँ, अब कहना यह है कि मैं कुछ कहना भी नहीं चाहता। कारण, कि जो कुछ मैं कहना चाहता या चाहूँगा वह किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से मेरे श्वासों से कहिए या उच्छ्वासों से बहिर्गत हो चुका है। अब मैं उससे अधिक क्या कहूँ, कृत्रिम मुद्रा बनाकर ?

रहा यह कि मैं उन 'पूर्व सूरियों' द्वारा विरचित 'वज्र-समुत्कीर्ण-मणि के वाग्द्वार' में 'सूत्र' की भाँति जाकर माला गूँथ सका हूँ या 'प्रांशु-लभ्य फल' को पीने की चेष्टा में 'उद्बाहु वामन' की भाँति उपहास का पात्र ही बन सका हूँ, इसका उत्तर तो 'सदसद्व्यक्ति हेतु सज्जन' देंगे हो, मुझसे इससे कोई प्रयोजन नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि जब कभी हृदय पर विक्षिप्तता सवार होती है, विवश लेखनी रो दिया करती है, और वे ही अश्रु-कण आप को इन पृष्ठों पर इधर उधर बिखरे हुए मिलेंगे। सच तो यह है कि इन्हीं से मेरे 'शाद्वल' का सिञ्चन हुआ है। यदि इसके द्वारा सहृदयों के नेत्र और हृदय कुछ भी तृप्त हो सके तो मुझे हर्ष ही होगा, पर साथ ही साथ मुझे पूर्ण विश्वास है कि पशु-वर्ग इसमें बढ़कर क्षति पहुँचाने का साहस नहीं कर सकता। क्यों ? इसका उत्तर यह है कि इसके उत्तर देने की आवश्यकता नहीं।

'प्रस्तुत संग्रह में' केवल तीन वर्षों की कुछ रचनाएँ संगृहीत हैं अर्थात्, ३८, ३९ और ४० की। जिस प्रकार के गीत या अन्य रचनाएँ दी गई हैं, उनके स्वरूप के विषय में मुझे विशेष कुछ कहना नहीं। कारण, अब हिन्दी-संसार उनसे अपरिचित नहीं रहा। छन्द वे ही चुने गये हैं जो हिन्दी की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल पड़ते हैं, अर्थात् मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग इसमें मिलेगा। दो चार मुक्त रचनाएँ भी दे दी गई है, जैसे प्रभात के प्रति, अट्टहास, स्वर्गामी शिशु के प्रति आदि। ये उन्मुक्त गीत हैं, जो अन्तराकाश से अबाध और उन्मुक्त धारा की भाँति झर पड़े हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस प्रकार के गीतों में वही गति होती है, जो किसी अधित्यका-विनिर्गत निर्झर में। मेरा जहाँ तक विश्वास है अब हिन्दी-साहित्य के कान इस छन्द को सुनने के लिए पूर्ण परिमार्जित हो चुके हैं, इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं। मेरे इन गीतों में बङ्गाली ध्वनिविशेष का तनिक भी आभास नहीं, यह विशुद्ध हिन्दी की अपनी ध्वनि है। दो एक रचनाएँ पन्तजी की उस शैली विशेष (Personal style) से साम्य रखती हैं, जो अब व्यक्तिविशेष की (individual) न रहकर हिन्दी की स्वकीय वस्तु हो गई है। उन्हें हम अर्धोन्मुक्त कह सकते हैं।

काव्य-भाषा के स्वरूप-निर्धारण का प्रश्न अब रह नहीं गया, वह कभी का निर्दिष्ट हो चुका है। अस्तु, उस पर भी मुझे कुछ कहना नहीं। इतना अवश्य है कि जहाँ कहीं भी यत्किञ्चित स्वतन्त्रता से काम लिया गया है, वहाँ किसी न किसी सौन्दर्य-

विशेष को ध्यान में रखकर या भाव के पोषण की दृष्टि से।

अब मैं अपनी बाल-धृष्टता के लिए क्षमा-याचना करके चल रहा हूँ, अपने पथ पर।

'नन्दन'
विक्टोरियापार्क, काशी
२७-८-४०

लालधर त्रिपाठी

जिसके पुनीत दर्शन से
कण कण ने जीवन पाया,
जिस पर अन्तर ने अपना
सर्वस्व समेट चढ़ाया।

जिसने मेरे 'शाद्वल' को
नित सींच सींच सरसाया,
जिसने आकुल अन्तर को
अपना-सा कर अपनाया।

जो मुझे देखकर मन में
है फूला नहीं समाता,
बस, उसी कुसुम को
अपनी निष्किञ्चन भेंट चढ़ाता।

सूची

शाद्वल

ओ, प्रिय शाद्वल !
प्रतिपल चंचल !
उत्सुक किस जिज्ञासा के बल
कर पकड़ रश्मियों के कोमल
जब तब तुम पड़ते मचल मचल ?

किस अन्तर की ज्वाला में जल,
किस उर के मृदु पलने में पल,
किस माली के कोमल-कर से
पा हृदय-स्रोत के जल उज्ज्वल,
हे शातकुम्भ ! हे बाल चपल !
तुम खिल पड़ते क्यों कुड्मल-दल ?

किसने मोती के हार पिन्हा
सायं-प्रात: अनिमेष-दृष्टि
देखा, करता ही रहा नित्य
अहरह अटूट आलोक-वृष्टि ?
किसके गीले वे अन्तस्तल ?
आशाऽभिलाष, दुख, दैन्य, ताप,
चिन्ता, आकुलता, मर्मोज्ज्वल
जिसके तुम एरे, अप्रमाण
शत-शत रूपों में पड़े निकल !

वह कौन विकल ?
जिसके उच्छ्वास-श्वास पागल,
तुमको लहरा जाते प्रतिपल,
जग देखा करता रूप - राशि
आनन्द-मुग्ध, नत-नयन अचल !

हे, जिसके मर्म्माघात देख
बन निर्निमेष
जाते कितने पाषाण पिघल !

वह कौन विकल ?
ओ, प्रिय शाद्वल !!

८-'४०

प्रभात के प्रति

तुम आते ,
सुषमा बिखेर पृथ्वी-मंडल पर
अवगुण्ठनमय एक रूप की क्षीण ज्योति दिखलाते ,
मौन और अस्पष्ट ;
कुछ कुछ छिपे मेघ-मंडल के चन्द्र !
करते कितना कष्ट ?
कितने बीहड़ वन, पर्वत, सरि, निर्झर, पुलिन, प्रदेश ,
कितने मन्दिर, महल, गगन - चुम्बी - प्रासाद ,
मौन खंडहर ,
उटज, नीड़ का हर्ष और अवसाद

हृदय में मूक छिपाकर
मन्द मन्द स्मित लेकर
कोलाहलमय-विश्व-तीर, कम्पित शरीर
करते हो पुनः प्रवेश !
व्योम-वासी-जन आकर के स्वच्छन्द
तुम्हारे आने के कुछ ही क्षण पूर्व
दीप-मालिका सजा सजा कर पथ पर आते ;
मौन मन्त्र पढ़
नीराजन-विधि को समाप्त कर जाते ।
स्नेह-हीन हो दीप
हो जाते आँखों से ओझल !
अचिर-योग, फिर चिर-वियोग को लेकर
कदलि-पत्र पर कुछ आँसू की बूँद ,
टप टप की फिर क्षण भर होती गूँज ,
शून्य-अंक में कर के उसे विलीन ,
हो जाते पल भर में अन्तर्धान !

१०-'३६.

स्वर्णिम घन से

स्वार्णाभ क्षितिज के बादल !
अम्बरतल में छा जाओ,
तरु, व्रतति, विहग, वन, उपवन,
सुमनों में स्वर्ण बिछाओ !

हे स्वर्गङ्गा के कोमल
जलजात ! मधुर मुस्काओ,
वीथिका, विपणि, गृह, जन-पथ,
जल-पथ में सुख बरसाओ !

अम्बर-मनोज्ञ सागर के
चल-द्वीप ! (स्वर्ण की लङ्का !)
चल पड़ो सुनाते जग को
तुम विश्व-विजय का डङ्का ।

मादक नयनों की मदिरा !
शुचितम सुहाग की लाली !
अम्बर के करुण-हृदय की
भावना - घटा मतवाली !

चलदल - किसलय के नर्तन !
पथिकों के अवधि - विधाता !
विप्लव - विराम ! संसृति के
हे आदि - अन्त ! जग - त्राता !

करुणाकर के, करुणा से
संद्रवित, हृदय की धारा !
छाकर नयनों में कर दो
करुणार्द्र विश्व यह सारा !!

६-'४०

क्षमा-याचना

भेज सकी मैं नहीं कुसुम !
तुम तक अपने सन्देश अजान ,
अब तो केवल रहा कलपना
हे, मेरे चिर जीवन, प्राण !

ऊषा से भर कर मधु-प्याला
तुम्हें पिलाने चली अधीर ,
धोका हा ! दे गई हमारे ही
उपवन की सुरभि - समीर !!

कम्पित उर, कँप गया गात सब ,
सँभल न सकी, विकम्पित - कर
गिरा पात्र, लुट गया हृदय - धन ,
प्रियतम ! सकी न स्वागत कर !!

मुझ अभागिनी की ये भूलें
क्षमा करोगे ? हे छवि - धर !
कैसे हो विश्वास मुझे ,
हे प्राण ! बता जाओ सत्वर !!

८-'४०

सन्ध्या

अनिल के पंखों पर हे देवि !
चली आती बोलो, हो कौन ?
अभी थीं कूज रही खग-बैनि !
पूछते ही यह कैसा मौन ?

हमारे आ जाते ही देवि !
कपोलों पर लालिमा - विकास ,
रुक गई तान, रुके मधु - गान ,
लाज का मुख-मण्डल पर लास !

वही जो जाते हैं चुपचाप
घास का ले सिर पर गुरु-भार ,
उन्हीं कृषकों के पीछे अरी
चली आती सखि ! सुषमाकार !

उधर खेतों की मेडों से
चले आते जो मधुमय - गीत—
कृषक-ललनाओं के सुकुमार,
मिलाती उनसे चरण पुनीत!

रचा चरणों में मेंहदी - रंग
कहो किस पर होगा अभिसार?
भाल की उज्ज्वल बेंदी अरे,
करेगी किस मन की मनुहार?

बैठ उस शैल - शिखर पर शान्त
कर रही किस करुणा की वृष्टि?
आज निज रँग में रँग भू - लोक
करोगी क्या सखि! नूतन सृष्टि?

कहो क्यों स्वर्ण - जलद बन आज
हृदय बिखरा शत-खण्ड अधीर?
तूल - सा उसे उड़ाता कौन?
हृदय का द्रुत उच्छ्वास - समीर!

तुम्हारे उर का पा संयोग
राग - रञ्जित दिगन्त, भू - लोक,
कौन से सृजन - तत्व से कहो,
करोगी भू - तल विमल, विशोक?

सुनाकर सोने के संगीत,
स्वर्ण-शय्या का कर निर्माण,
स्वर्ण-कर शंकर-सा कर रहा
स्वर्ण-गिरिवर की ओर प्रयाण !

न जाने दो सखि ! रोको उसे
तनिक कर लें पल भर दो बात,
आ रहा अरी ! नैशतम-तोम
न जाने फिर कब स्वर्ण-प्रभात !!

वह्नि की विकट शिखाएँ आज
चूमतीं सखि ! उठ उठ कर व्योम,
आह ! अब हुआ असह्य अपार
प्रकृति की गति हो रही विलोम !!

जहाँ था कभी पयोधि अपार
वहीं बहती शोणित की धार,
दुधमुहें बच्चों की अब नहीं
सही जाती सखि ! आर्त पुकार !!

तनिक जाकर के कह दो, कवे !
श्लोक बन गया जहाँ था शोक,
अरे, चल करके देखें आज
हो रहा कैसा वह नर-लोक !

अन्ध - तम फैल रहा सब ओर
सूर्य - शशि होते तिमिराच्छन्न,
हो रही दूर दृष्टि की प्रभा,
देश हो रहा समस्त विपन्न !

ले चलो कवि ! वह ऋषि-समुदाय
देखता दण्डक कब से राह,
किए सिर ऊँचा कब से विन्ध्य
बुलाता ऋषिवर भर उत्साह !!

तुम्हारे अञ्चल में फिर उठे
देवि ! वह अग्नि-होत्र-मख-धूम,
तपोवन के अङ्कम में अरी !
उठें वे वेद - मन्त्र फिर झूम !!

५'—४०

रश्मियों से (१)

आकुलित रश्मियो ! दौड़ पड़ी क्यों भू-पर ,
क्या छिपा यहाँ का तुम से है व्यवधान ?
इस शीत - देश का मौन-निमन्त्रण पाकर
पथ - बाधाओं का नहीं तुम्हें कुछ ध्यान ?

अणु अणु को ज्योतित करती तुम इठलाकर ,
शीतल - स्नायु में उष्ण - रक्त - संचार ,
जो कर्म - हीन सोए हैं, उनको पाकर
जागृति का उनमें करती चली प्रचार !

निज देश छोड़ आवेश-मज्जिता-सी तुम
चढ़ चली आज अधखिली कली की भाँति,
द्रुत-गति में चपला की चञ्चलता-सी तुम,
हे, चली मचाती जग में भीषण क्रान्ति !

आवृत रहस्य है नहीं आज कुछ तुमसे,
तुम जग-रहस्य की जननी, मर्म-विहीन,
सम्बद्ध विश्व के सब रहस्य हैं तुमसे
तुम नित नवीन बन रहती उनमें लीन !

उज्ज्वल अरूप भावों की हे ! प्रतिमा-सी,
अनुभावों की सहचरी तुम्हें लूँ जान ?
तुम ही विभाव, तुम हावों की उपमा-सी
तुम नैसर्गिक-सुख से सिंचित मुस्कान !

हे द्वि-प्रकाश की मौन सुनहली भाषा !
हे व्योम-पृष्ठ पर अङ्कित लिपि सुकुमार !
हे कवि की कोमल कला ! कल्पना-कुंचित,
हे प्रणयी के उर की उज्ज्वल उपहार !

रवि-नीड़-द्वार को खोल खगों-सी तुम जब
चल पड़ती नभ में स्वर्णिम पंख पसार,
मैं मन्त्र-मुग्ध हो आँख उठाता हूँ तब
होती हैं तुमसे मेरी आँखें चार !

तुम भाव-लोक की सुघर परी - सी उड़कर
अनुभावों को करती हो नभ में व्यक्त,
तुम सुभग अप्सरा-सी आती नभ तर कर
क्या नहीं विश्व में हुई कभी अनुरक्त ?

किस उत्सुकता के साथ उतरती भू पर
कल राजहंसिनि का लेकर परिधान,
वन-भूमि कण्टकित करती हो तुम छूकर,
भावों के मोती चुगती हो द्युतिमान !

नभ-स्थल-वासी को मृदु अंकम में लेकर
निज प्यार भरे चुम्बन का करती दान,
जल-अन्तराल में जलचर-सी चुप जाकर
उपलब्ध किया करती पहली पहचान।

तुम यूथ यूथ में स्वर्ण-शलभ-सी आती
अब अन्धकार की खेती का है नाश,
चल झूम झपट झञ्झा-सी द्रुत लहराती
लेती अस्ताचल - विवर - बीच अधिवास !

द्युतिमती गिरा - रथ-संवाहिनि ! सुकुमारी !
तुम काम - रूपिणी जगती की शृङ्गार,
गिरि, निर्झर, विविध वनस्पति की फुलवारी
तुम करती रहती इनमें नित्य विहार !

कर्तव्य-निरत सखि ! सदा रहा करती हो,
गति - शील विश्व की सच्ची एक प्रतीक !
तुम स्वयं पान्थ, पथ-दर्शक भी रहती हो
तुम स्वयं भाव, पर भाषा सरल सटीक !

× × ×

मौन-व्रत-धारिणि ! तुम्हारी यश-कथा
कह रहे तृण मौन-भाषा में सदा,
वन्य खग गुण-गान में तल्लीन हैं,
कल-निनादित आज गङ्गा, नर्मदा !!
हे युगों की सूत्रधारिणि देवियो !
हे युगों की पालिके, संचालिके !
देख लो दृग्द्वार दोनों हैं खुले,
हृदय - मन्दिर में चलो रवि-बालिके !

११-'३६

ग्राम-बालिका

वह वन-देवी की चलित चारु प्रतिमा-सी ,
वह कल ऊषा की मन्द, मुग्ध मुस्कान ;
वह मर्त्य - लोक की सुखदा, सरला दासी ,
वह गूढ़ नागरिक छलना से अनजान ।

वह कलित-कल्पना-लोक-विहारी भोली ,
अप्सरा - सदृश सरसिज - से कोमल अङ्ग ;
वह ललित भाव से भरती कवि की झोली ,
वह स्वाभाविकता को रखती नित सङ्ग ।

वह देव - कला - सी मूक बनाती चलती ,
निस्तब्ध - हृदय के करती झङ्कृत तन्त्र ;
वह प्रिय-वियोग-सी मधुर, ज्वाल-सी जलती
वह परम पुनीता, वशीकरण - सी मन्त्र ।

प्रति दिवस सूर्य्य सर्वस्व निछावर करता ,
नित निशानाथ मोती की करता वृष्टि ;
नित मलय अङ्क में अपने सुख से भरता ,
है प्रकृति निछावर करती सारी सृष्टि !

जो सरल दृष्टि से कृषी देखती रहती ,
जो विविध भावना की बढ़ती वन्या है ;
सुख, दुख के मधुर झँकोरे सुख से सहती
वह परम सरल बस, एक ग्राम - कन्या है !!

११-'३६

विपन्न पुकार !

किस क्षीण कण्ठ की अरी विपन्न पुकार !
टकराती आती अम्बर - धरा मिलाती,
झङ्कृत करती कृश - तन्त्री सब तार !
किस क्षीण कण्ठ—!

उपकरण तुम्हारे अस्त-व्यस्त दिशि, पल में,
आश्रय - वञ्चित - से सुमुखि ! सकल उपचार,
दुर्द्धर्ष जलधि, आग्रह का एक सहारा
अन्तर में ज्वाला, आँखों में जलधार !
किस क्षीण कण्ठ—!!

फिरती उपेक्षिता-सी क्यों वन वन दीना ?
वे गए तुम्हारे कहाँ सौम्य शृङ्गार ?
क्यों छोड़ आज सब लभ्य वस्तु की आशा
मिट्टी में मिल जाने पर इतना प्यार ?
किस क्षीण कण्ठ—!!

सखि ! पड़ी आज वात्या में कैसे ? बोलो ,
क्या विदित न था जगती का कुछ व्यवहार ?
तुम रहो गूँजती देवि ! युगों की प्यासी ,
मैं वात्या में मिल बन जाऊँ संहार !
किस क्षीण कण्ठ की—!!

तुम अखिल जगत के कोलाहल को अपने
सूनेपन के अङ्कम में सखी ! समेट,
इस शान्त भाव से चली जा रही, बोलो,
सन्ध्या - सी करने किस प्रियतम से भेंट ?
हे, मधुर दुःख की छाया-सी
सखि ! सुख का कर परिधान ,
श्वासानिल-सी हो निकल पड़ी
जाने, किसका धर ध्यान !

क्या तुम्हें छेड़ मैं सकूँ ? आह ,
कितना है गुरुतर भार !
मन को पढ़ने की अभिलाषा
क्या है कुछ अत्याचार ?

अब अधिक न और छिपाओ ,
देखो, करने को हैरान !
कब से आशा है खड़ी, देख लो ,
उधर लगाए कान !

तुम चलो प्रदर्शन करती मेरे पथ का ,
मैं चलूँ मिलाता तुम से अपने तार ,
मैं देख देखकर अपनापन बिसराऊँ ,
तुम चलो खोलती मन - मन्दिर के द्वार !
ओ क्षीण कण्ठ की विकल, विपन्न पुकार !!

३—'४०

विनय

जननि ! जीवन धन बना दो
सलिल शीतल, मधु-सुधा-सा,
अखिल जीवन खिल उठे,
जग जाय जीवन की पिपासा !

आज कण कण में कसक,
परमाणुओं में प्राण भर दो,
लय अनन्त दिगन्त, उर-स्थल
ज्वाल-माला-कलित कर दो !

विमल मति प्रति स्थल पहुँच कर
प्रति हृदय की थाह लेवे;
जग - जननि ! जग को अकल्मष
नवल प्रबल प्रवाह देवे,
पा प्रसार पुकार मेरी !

४-'४०

गीत

वेदना यह कौन पाली !

दर्शनों का मधु पिला कर,

मधुर वाणी की सुधा भर,

इस अँधेरे भवन में फिर

स्नेह का दीपक जला कर,

कल्पना की थपकियाँ दे भावना-शय्या सजा ली !

वेदना यह कौन—

बाह्य कोलाहल न आवे,
शान्ति भी बाधा न पावे,
विश्व की निष्ठुर पद-ध्वनि
आ नहीं सहसा जगावे!
कान के पट मूँद मैंने, ध्यान की खिड़की लगा ली!
वेदना यह कौन—

क्या बताऊँ क्या हुआ फिर,
मधु-सुधा का पात्र वह गिर
ध्यान - नभ में जा लगा था,
जलद - माला थी रही घिर,
विरह-वन में घूमती थी आज वह व्याकुल उताली!
—वेदना यह कौन पाली?

५—'३६

तब !

जब वारिद - व्यूह उतर कर
नभ - मंडल में छा जाएँ,
प्रलयङ्कारी गर्जन में
दिग्देश विशेष भुलाएँ !

सब सृष्टि निगलने वाली
जब भीमा प्रकृति बनी हो,
जग - संहृति - कर - प्रत्यञ्चा
सब ओर कठोर तनी हो !

जब एक अदभ्र अखंडित
तिर्यग्गति तामस - माला,
क्रोड़स्थित अखिल प्रकृति को
कर दे क्षण में मतवाला !

उस सूची - भेद्य अमा में
अन्तर्हित विद्युन्माला,
क्षण अट्टहास कर जावे
फैलाकर अपनी ज्वाला !

वात्या - कर सतत विताड़ित
जड़ - चेतन एक बने हों,
विक्रान्त विश्व को करके
संहृति के त्यौर तने हों!

आलोक - मार्ग में कोई
पथ आलोकित न दिखावे;
प्रोच्चंड - स्वन विस्फूर्जथु
साहस को मार भगावे।

× × ×

आशा की एक लकुटिया
छोटी सी कर में लेकर,
वह पथिक चला जाता हो
रे, किसी अटूट क़िले पर।

× × ×

पथ का न प्रदर्शक कोई
साधक, पर बाधक कितने,
मुख पर न प्रदर्शन पाया
संभ्रम, विराग किंचित ने!

× × ×

वह शान्त भाव से जाकर
चुपचाप तुम्हारे द्वारे,
आँखों को ऊँची करके
अपलक जब तुम्हें निहारे।

कुछ आशा, कुछ अभिलाषा,
कुछ आह, कराह भरी हो
आँखों में, अन्तस्तल में
रे, एक चोट गहरी हो!

उर थर थर काँप रहा हो,
तंत्री में हल्की कम्पन;
उर पर खिंच खिंच आता हो
वह चित्र विचित्र - चिरन्तन!

क्या होगा? सोच, कलेजा
रह रह मुँह को आता हो,
'आकर फिर लौट चलें क्या?'
कह, अतिशय घबराता हो!

× × ×

चिर - चुम्बित वे ही आँखें
क्षण एक चार हो जावें,
सब तंत्र साथ ही झङ्कृत
हो, निराधार सो जावें!

× × ×

चट आँखें फेर उसी क्षण
आशा को ठुकरा देना,
कुछ उसे न देकर, उसका
सर्वस्व हाथ में लेना!

१—'४०

कैसे पथ पर ले आऊँ !

तुझको कितनी बार सिखाया

चपल हृदय ! पर-वश मत हो !

कठिन कण्टकित-पथ जीवन का

तू न कहीं क्षत - विक्षत हो !

जाने, किस छवि के दामों पर हुआ पराया तू अनजान !

उलझ पड़ा किस स्वर्ण-जाल में अरे अकिञ्चन, भाव-प्रधान !

कैसे तुझको समझाऊँ ?

कहा कि ऊषा लेकर आती
पगली - सी कर में हाला,
पीकर उसे पड़ा रह बे - सुध
जगती से, बन मतवाला;
पर जाने किस उषा-सुन्दरी से भी सुन्दरतर छवि देख,
पड़ा उसी के चरणों में हा ! लख अपलक भोंहों की रेख !
कैसे तुझको बहलाऊँ ?

सुमनों की सुन्दर शय्या पर
नन्दन - वन में जा जाकर
पीता रह अनिमेष, अचञ्चल
भ्रमरों के स्वर मधुर, मुखर;
पर किस मृदु मानस-लहरी को देख पवन में, टकराया,
मेरी सारी कही भुला दी, नहीं ध्यान कुछ भी आया !
कैसे तुझको अपनाऊँ ?

सन्ध्या को सस्नेह दृगों से
कहा कि देखा कर, अनजान !
कोई पंछी नीड़ - दिशा से
विपथ न हो जावे, अम्लान !
पर आकर जब देखा तुझको, नहीं तुझे पथ पर पाया,
खो बैठा तू स्वयं नीड़ निज, मुझको तभी ध्यान आया !
कैसे पथ पर ले आऊँ ?

८-'४०

अभ्यर्थना

मा ! मेरे अन्तर की ज्वाला
जगती को रक्षक बन आए,
वन, उपवन के सुमन सुमन पर
सुघर अश्रु के कण ढुलकाए !

मानस के सुन्दर सम-तल पर
स्निग्ध स्नेह-शतदल खिल जाए,
शत शत उर बन भ्रमर मुखर-स्वर
निशि-दिन प्रति पल क्षण मँड़राए !

माँ ! मेरे विषाद की छाया
जग का आतपत्र बन आए,
अनलस, मृदुल भाव-मुकुलों से
मेरा मन - नन्दन मुसकाए !

मा ! मानव मानव बन जाए !!

८-'४०

अनुरोध

विश्व-क्षितिज की स्वर्णिम रेखा !
ओ, यौवन की आग !
जाग जल उठें अपनी ज्वाला
में ये कमल - पराग !

अरी, प्रलय - घन - घटा सदृश
उठ उमड़ घुमड़ चहुँ ओर,
आज मिला दे निज छाया में
तू अग, जग के छोर !

लहराती आजा वात्या - सी
इस उपवन के बीच,
प्राण प्राण खिल जायँ और
तू ले अवगुण्ठन खींच !

भर दे क्षण भर कण कण के
प्राणों में मधुमय गीत,
युग युग का तज अहम्भाव
बन जायँ दिगन्त विनीत !

सहज स्नेह का हो बन्धन
जड़ लौह - शृङ्खला - हीन,
जीवन में जीवन लय हों,
प्राणों में प्राण विलीन !

× × ×

हृदय - वेदना की शीतल
दाहकता की अनुभूति
करने लगें सकल जन - मन,
अपनावें प्रेम - विभूति !!

५-'४

रश्मियों से (२)

तुम स्वर्ग - सुखों पर लात मार
सुमनस - शय्या को छोड़,
चल पड़ी किधर कर्तव्य - निरत
कन्धे से कन्धा जोड़!

क्या तुम समूल कर देने को
भव - बाधाओं का अन्त,
हो पतझड़ - सी झड़ पड़ी, अरी!
लाने को नवल वसन्त?

हे जीवन-पथ के प्रथम चरण
की हल्की - सी मुस्कान!
क्षण क्षण पर चरण बढ़ाती
किस द्रुतगति से, हे अम्लान!

तुम वन - कुसुमों को सुना रही
कैसे सुखमय सन्देश?
मतवाले भ्रमरों में बोलो,
भर दिया कौन आवेश?

वन - विटपों की शाखाओं पर
कैसे जाग्रति के गान।
प्रति कण्ठ आज कह रहे—"उठो,
देखो, अब हुआ विहान!"

तुम मलय पवन के रथ पर चढ़
अथ के पथ पर बढ़, घ्राण-
तर्पण करती - सी चली, विकल
वसुधा का करने त्राण?

तुम पार्वती - सी करती किस
शङ्कर का अनुसन्धान,
इस वन से उस वन, धारण कर
मौञ्जी - सा स्वर्ण - विहान?

शुचि जलाशयों का ज्योतित कर जल
जा सरसिज के पास,
करके मधु-पान, कहो सखि! किसको
सिखलाती जल - लास?

फिर कहीं पंछियों के पंखों पर
बन कर एकाकार,
द्रुत उड़ती चली जा रही, नभ में
गाती गीत अपार।

तुम गाँवों में स्वच्छन्द विचरती
धर खेतों की मेंड,
चट कृषक-बालिका के अञ्चल छू
करती उससे छेड़।

चल कभी खिलखिला पड़ती
मिलकर जल-तरङ्ग के साथ,
फिर कभी दौड़ती उनके सँग
लेकर हाथों में हाथ।

बढ़ कहीं मरुस्थल में जा,—करके
निज करुणा की वृष्टि,
मय दानव-सी करती कैसी हो
सरिताओं की सृष्टि?

अलि! कितने मन-मृग दौड़ दौड़ कर
थक जाते कर यास,
पर दुर्योधन-सा सृजन-तत्व का
उन्हें न होता भास!

अणु अणु परमाणु जल-स्थल में
भर कर निज परम प्रकाश,
शाद्वल के अंचल में जाती
—करने को पल भर वास।

सखि ! सूक्ष्म रूप धर मौन, विवर
का वातायन कर पार,
क्या दीनों के तरुतलावास पर
करती मौन विचार ?

क्या चलदल के पत्रों - सा तेरा
हृदय हुआ उद्भ्रान्त ?
या चिन्ताओं से मानस अमलिन
हो आया आक्रान्त ?

जा अन्धकार - अन्तस्तल में
उज्ज्वल झींगुर की मूँछ !
तुम किस रहस्य के उद्घाटन का
मर्म्म रही हो पूछ ?

हे स्वर्ण - हंसिनी ! हमें ले चलो
जीवन के उस पार,
हे देवि ! दिखा दो दीनों के
अन्तर के हाहाकार !

मैं भी जा मिलूँ उन्हीं में
बन कर मद - मत्सर से हीन,
सखि ! आँसू मत बरसाना, यदि
हो जाऊँ वहीं विलीन !

५-'४०

निवेदन

मैं जलता हूँ जलने दो !
मत मुझे बचाने आना,
ओ दुनियावालो ! मुझसे
मत सहानुभूति दिखाना !

मुझको कुछ होश नहीं है
मैं हुआ स्वयं दीवाना,
मैं मिलूँ धूल में तो फिर
मत मुझ पर शोक मनाना !

जब टूटे तरी हमारी
तट का हो नहीं ठिकाना,
मैं डूबूँ या उतराऊँ
मत मुझ पर आँख उठाना !

अम्बरतल के हे तारो !
पल भर को पलक गिराना,
मैं रहूँ न रहूँ जगत में
मत मेरी बात चलाना !

आदर्श बिगड़ जाएँगे,
दुनियाँ होगी दीवानी,
कहना मत मेरी गीली—
पगली दुख - भरी कहानी !

तुम चलो लीक से अपने,
मैं वन वन फिरूँ अकेला,
पागलपन का सौदा है,
पागलपन का है मेला!

नस नस विद्रोह भरा है,
प्राणों में क्रान्ति गरजती,
हँसने दो पागल कह कर
दुनियाँ यदि मुझपर हँसती!

जाने क्यों प्राण हमारे
हैं नहीं होश में अपने,
रह रह कर आँख-मिचौनी
कर रहे दिवङ्गत सपने!

जाओ, मैं तो युग युग का
दुनियाँ का हूँ ठुकराया,
जाने क्या ये समझाते,
कुछ नहीं समझ में आया!

× × ×

अन्धड़ तूफ़ान चला है
चलने दो, मत घबराओ,
मैं प्रणय - पत्र सा उसमें
उड़ जाऊँ यही मनाओ!!

५-'४०

तरङ्ग के प्रति

वह छवि नयनों में मूर्तिमान !

लेकर मोती के धवल हार
वह बढ़ी वेग से इस किनार,
रोड़ों से टकरा बार बार—
वह लौट पड़ी पगली समान !
वह छवि—!

साहस क्षण क्षण पल पल करती
वह मुझसे मिलने को बढ़ती,
निष्फल - प्रयत्न में इसी भाँति—
होती सन्ध्या, होता बिहान !
वह छवि—!

मैं था तट पर चुपचाप खड़ा,
पग था ज़ंजीरों में जकड़ा,
इच्छा थी उर में मिलने की—
पर, मिल न सका, आया तुफ़ान !
वह छवि नयनों में मूर्तिमान !!

८-'३८

स्मृति

सपने की मिटती याद नहीं !

जग में परिवर्तन होते हैं,
सब अपनी बीती खोते हैं,
मैं भी प्रयत्न करता वैसा—
पर, हो पाता आजाद नहीं !
सपने की—!

जग भूल गया उन बातों को,
अपने नृशंस आघातों को,
चिन्ता मुझको इतनी ही है—
वह होगी विगत-विषाद नहीं !

सब ओर घटा काली छाई,
मेरी स्मृति - लतिका हरियाई,
लोचन - घट भर मैं सींच रहा—
मिटता मेरा आह्लाद नहीं !
सपने की मिटती याद कहीं ?

७-'३८

भ्रमर की अभिलाषा

रे, भ्रमर न छोड़े कभी पुष्प की आशा,
उसकी तो है बस, एक यही अभिलाषा—
जब देखो वह सब ठौर यही है गाता,
वह सदा सुमन को यह संदेश सुनाता—
"चाहे बन्धन में पड़ूँ, सहूँ दुख नाना,
पर तुम हे मेरे सुमन! भूल मत जाना!"
वह काँटों में जब पड़ा तड़पता रहता,
सुन लो, तब भी वह बात कौन सी कहता—
"मैं फँस काँटों में चाहे प्राण गवाऊँ,
पर अन्त समय में तुम्हें देख भर पाऊँ!!"

३—४०

बटोही से

बटोही, भूलो पथ की बात !

सोच सोच कर होगा उर पर,
व्यर्थ अशनि का पात !

नील गगन के वक्षस्तल के,
गिन गिन कर जलजात,
निज उर के अगणित हिम-कण से
लगा चलो अनुपात।

ऊँची-नीची अनिल-ऊर्म्मियों,
का सहते आघात,
चलते चलो निरन्तर सब निशि,
होगा कहीं प्रभात !

बटोही ! भूलो पथ की बात !!

१—'४०

दर्शन

आह ! मैं कैसे छिपाऊँ
भ्रम भरे भैरव भुवन में ?
आज कण कण रे, पिपासाकुल
चलूँ किसकी शरण में ?

अनिल ठंडी साँस भरती
डोलती क्यों विकल वन में ?
वेदना अपना दिखाती विभव
विस्तृत घन-विजन में ?

क्यों तरङ्गों-सा हृदय उठ-उठ,
पिघल, स्खल, ढल रहा है ?
बालकों-सा क्यों गगन-मण्डल
प्रमील मचल रहा है ?

हो रहा क्यों आज विधि का
विकल विश्व-विधान सारा ?
फूट निकली आज क्यों बन
शतमुखी हिम-राशि-धारा ?

सुमन में बैठा दिया है कौन ?
अलि ! क्यों खोजते हो ?
सुमन ! सुन्दर सुरभि का
उपहार किसको भेजते हो ?

आ रही किस कोण से युग-
शान्ति आज अशान्ति बनकर ?
कुसुम-कोमल-कल्पना क्यों
आ रही कवि ! क्रान्ति बन कर ?

आँसुओं की बूँद छिपती जा रही
छन छनन छन कर !
गगन का उर हो रहा गीला
सरित में आज सन कर !

देख कर सारी दिशाएँ
लौट आती आज आशा,
विश्व का व्यतिक्रम निरखकर
बन रही है मौन भाषा !

कवि ! तुम्हारी वेदना का
है कहीं अवसान ? बोलो !
देखना यदि चाहते, तो
आज मेरे साथ हो लो !!

३-'४०

कवि से

मुँह खोलना सीखा कली ने
पा तुम्हीं से प्रथम परिचय,
कह उठे सहसा मरुद्गण
साथ ही जय, जयति, कवि! जय!!

प्रवण वीणा की मधुर झङ्कार
है उन्निद्र, चञ्चल,
भर रहा है आज वीणा-
पाणि का चल-अमल-अञ्चल।

झूमता है अनिल-विलुलित
विमल-शाद्वल-तरल-अंचल,
देखते हैं छवि सतत शत शत
विनत अपलक दृगंचल।

कवि, कुशल - कर! मौन-दृग
से गान गाता चल अनलमय,
विष-द ईर्ष्या, द्वेष, दुर्दम
दम्भ का हो जाय संक्षय!

सतत-गति! हे सतत निर्भय!!

४-'४०

हार

प्रिये ! अपनाओ मेरा हार।

युग युग की आशा, अभिलाषा,
युग युग का अभिमान,
गूँथ गूँथ कर ले आया हूँ
कर देने को दान
चरण में, करो इसे स्वीकार !
प्रिये, अपनाओ मेरा हार !

मधुपों की मादकता ले, कर
सुमनों का बलिदान,
चरणों में दिखलाने आया
जीवन का अवसान,
कहोगी पागलपन या प्यार?
प्रिये, अपनाओ मेरा हार !

जल-निधि की उत्ताल तरङ्गें
बीहड़ ऊर्म्मिल - धार,
गगन-चुम्बिनी-अनल-शिखाओं
का करके परिहार,
किया ज्यों त्यों दुस्तर पथ पार!
प्रिये! अपनाओ मेरा हार।

विषम विश्व के जीवन में सम-
मधु-घृत का कर मेल,
करता मैं विषमय फणियों की
विषम फणा से खेल,
अज्ञ-सा है मेरा व्यापार!
प्रिये! अपनाओ मेरा हार।

मोल आँकने का न काम कुछ,
नहीं अधिक विस्तार,
देखो, झाँक रहा है इसमें
छिप कर मेरा प्यार,
देख लो, नयनों की जल-धार!
प्रिये, अपनाओ मेरा हार!!

३—'४०

अशोक के—

पीत पत्र से

ओ पीत पत्र ! तुम आज शान्त क्यों बोलो ,
अपने उर का प्रिय ! कुछ रहस्य तो खोलो ;

अवनी पर आकर पतित हुए क्यों सहसा ,
लेकर कुछ नव संदेश, प्रेम, आग्रह-सा ?

जिस मधु से पा अनुराग विश्व में आए ,
क्यों उसे देख फिर आज कहो मुरझाए ?

तुम चिर-अशोक, वन-भाव-लोक की भाषा ,
चल पड़े आज क्यों त्याग विश्व की आशा ?

पावन ! पुनीत कर-कमल-परस क्या करने ,
हे नभ-वासी ! पग पड़े भूमि पर धरने ?

मानव-मन की मञ्जुल मरोड़ को हरने ,
चिन्ता, क्रम, ईर्ष्या, अविश्वास क्षय करने ,

युग स्वर्ण-रत्न-से हृदय एक में जड़ने,
विमलानुराग - विस्तार विश्व में करने,
ले कोयल की पञ्चम पुकार, जग तरने,
तुम निर्झर ही की भाँति लगे क्या झरने!

पावन, शीतल तव भ्रू - विलास की छाया,
उसने किसका है हृदय नहीं अपनाया!
दे शीतलता का दान विश्व को प्यारे!
कह दो क्यों उससे आज हो रहे न्यारे!

यदि जाना ही था तुम्हें, कहो क्यों आए?
क्यों विमलाकृति यह मुझे मनोज्ञ दिखाए?
क्या पढ़ सकता हूँ तुम्हें? पत्र तुम किसके?
तुम में है किसका हृदय निहित पिस पिसके?

किसको पहले लख था अनुराग बिछाया?
किसका वियोग पा अब पीलापन छाया?
हे पीत पत्र! चुप रहो न, अब कुछ बोलो,
अपना उर, मेरा हृदय तुला पर तोलो।

× × ×

जाते हो? जाओ, जाओ, प्रियतम! जाओ,
यदि भूल सको तो प्राण! मुझे बिसराओ!!

३.'४०

बहता हुआ फूल

वह लहरों से टकराता
आगे ही बढ़ता जाना,
अन्तर्विलीन होकर, फिर
क्षण भर में ऊपर आता।

किस घड़ी पड़ा वह जल में !
पल भर भी चैन न पाया,
सर्वस्व समर्पित करते,
जाने, क्या लाभ दिखाया !

लहरों की मादक-गति ने
क्या उसको मत्त बनाया ?
या जगत्प्राण ने गतिमय
जीवन का पाठ पढ़ाया ?

मिलना है उसको जिससे
अभिलषित, न है मिल पाया,
इसलिए तरङ्गाकुल वह
व्याकुल - सा है घबराया।

अब तक के सूखे जीवन
में शान्ति न उसने पाई,
रे! इसीलिए क्या उसने
आँसू की नदी बहाई!

जब कुसुम - वृन्त में बैठा
सौरभ-वितरण करता था,
कितनी मधुकरियों का वह
सर्वस्व - हरण करता था।

करुणा की अब कल धारा
आँखों में दौड़ गई थी,
सच्चे सुखमय जीवन की
अनुभूति अनिन्द्य नई थी।

रुक सका नहीं पल भर भी
वह जगती की डाली पर,
वृन्त - च्युत चला अकेला
वेला से वनमाली पर।

सब सुमन हँस पड़े सहसा:—
"यह उसका दीवानापन!
किस भ्रम में पड़कर उसने
खोया अपना अपनापन!"

वह बढ़ता गया निरन्तर,
मुड़कर फिर कभी न देखा;
सुमनों के मुख पर अब भी
थी तिरस्कारिणी रेखा!

वह बन्धन - मुक्त हुआ था,
बन्धन में फिर क्यों आवे!
संकुचित विचारों का सुन
वह क्यों पल भर पछतावे!

झञ्झा-झकोर अब भी तो
हैं कभी कभी आ जाते,
पर मनोनीत पथ पर से
वे उसे न विचला पाते!

अकलुष अनन्त के उर में
वह कभी मिलेगा जाकर,
विश्राम मिलेगा उसको
सम्पूर्ण ममत्व गंवाकर।

२-'४०

अपेक्षा

गिर जाने दो सुरा-पात्र
बह जाने दो मादक हाला,
आज शयित स्वप्नों ने आकर
कर डाला है मतवाला !

छिपती चली जा रहीं जग-
की छायाएँ धीरे धीरे,
किन्तु चमकते ही जाते हो
तुम क्रम से मेरे हीरे !

आँखें ज्यों-ज्यों ढँकती जातीं,
रूप निखरता आता है,
जाने कौन गगन - मण्डल
से यह आसव बरसाता है !

कलिका की अधखुली आँख !
कब से आँसू पीना सीखा ?
अरे पतङ्गो ! तुमने कब से
जल जल कर जीना सीखा ?

किस तन्त्री के तरल ताल पर
हे खग ! अपना स्वर भरते ?
किसके पीछे दीवाने बन
पवन ! सदा घूमा करते ?

किस प्रत्यञ्चा की गहरी
टङ्कारों से बहरे बनकर,
सुनते हो अलि ! नहीं शोर
यह, चले चल रहे गुञ्जन कर ?

किस शोभा से सतत प्रभावित
होकर बोलो, हरियाली !
झूम रही हो, सुध बुध खोकर
अनिल - अङ्क में मतवाली !

मुझ से सच्ची सुरभि ! बता, क्यों
बाँध कुसुम - कुल का तोड़ा ?
मतवाली बन जाती किस पर,
किससे अपनापा जोड़ा ?

हे अनन्त आकाश ! कहो
किस हेतु मचलते रहते हो ?
किसकी छाया पड़ी, हृदय के
दृश्य बदलते रहते हो ?

रो पड़ते हो कभी, कभी
हँस सबका मन बहलाते हो,
भावोदधि, उदार हे ! फिर क्यों
कहो 'शून्य' कहलाते हो ?

जो जाता है जिधर, आह !
रोको मत, उसको जाने दो,
और मुझे हे पुष्कर ! अलि-सा
अपने में उड़ आने दो !

४-'४०

उद्गार

हाय, आहत हृदय ! तुम कह दो सही
है कहाँ जाना तुम्हें रुचता ? अरे,
कौन तुमको छोड़कर लावण्यमय
अश्रु-लोकों का विकल दर्शन करे !

काँपते रहते कलेजे ! हो सतत
कौन जाने, किस निठुर की भीति से !
आह, चञ्चल नयन ! अञ्चल में छिपे
तड़पते रहते जगत की रीति से ?

आँख ! हाय, कपोत-शावक की तरह
छू गई हो क्या मनुज-सौन्दर्य्य से ?
क्या ! उसी कारण तुम्हारे वर्ग के
छू न छाया सक रहे हैं धैर्य्य से ?

प्रणय ! संशय-अङ्क में तुम हो पले,
आज भी छाया न उसकी छोड़ती;
विश्व-आशङ्का तुम्हारे जन्म से
किस तरह सम्बन्ध सुस्थिर जोड़ती ?

विघ्न से शतबार आहत हो, प्रणय !
मार्ग से अपने नहीं मुँह मोड़ते,
आ पड़ें पर्वत, कुलिश बन कर तुरत
पंख, कर, पद, रद, उरस्थल तोड़ते।

आह, आयत आँख ! संध्या की तरह
नित्य विह्वल-सी किसे हो झाँकती ?
फेंक कर पुतली निशा के गर्भ में
विश्व की गम्भीरता क्यों नापती ?

बाहु ! तुम हो फड़कते इस भाँति क्यों,
किस परी को बाँधने निज पाश में ?
क्या न तुम हो बँध चुके पहले कभी
आँसुओं में, आह में, उच्छ्वास में !

विश्व की आँखें बचाकर हाय, क्यों
प्रणय ! चलते हो प्रथम, उन्माद में
भूल जाते हो स्वयं सुध बुध पुनः
दुःख के किस देवता की याद में ?

एक मृदु मुस्कान में कितनी व्यथा
गूँथ कर रख दी विधाता ने भला !
प्रणय ! अहह, दुरन्त है, दुर्ज्ञेय है,
कष्टकर है, क्लिष्ट है तेरी कला !

विवशते ! तव राज्य अगम, अनन्त है,
वश भला उसमें किसी का क्या चले,
पवन की गति रुद्ध, पावक पंगु है,
कुलिशकर-कृत-नियम क्यों टाले टले !

विकलते ! तुम विकल बनकर भी कभी
कर न सकती काम हो निज दास का,
धैर्य्य को जिस जगह धरना चाहिए
उस जगह है काम क्या उच्छ्वास का !

और तुम उच्छ्वास ! हो पागल बड़े
समय, असमय का न रखते ध्यान हो,
भेद सारा खोल देते सामने,
बालकों-से ही बड़े नादान हो।

भेद ! जाओ, फैल जाओ विश्व में,
मैं नहीं तुमको छिपाना चाहता;
किन्तु रुक कर देखना उसको ज़रा
यदि मिले समदृश कुठौर कराहता।

× × ×

हाय, मैं किससे कहूँ, कैसे कहूँ,
मन ! भला सुनता तुम्हारी कौन है ?
फिर गईं आँखें, तुम्हें यों देखकर
देख लो, यह विश्व सारा मौन है ?

चल पड़ो वात्या ! क्षितिज के छोर से
फैल जाओ भूमि पर भूकम्प-सी,
भूमिरुह, भूधर, सभी झकझोर कर
आ मिलो मुझमें हृदय के शम्प-सी।

४-'४०

ग्रीष्म से

अपने उर की ज्वाला लेकर
मेरे अन्तर में सुलगा दे,
पली हुई उसके अङ्कों में
वाणी निकले· ज्योति जगा दे।

जगती के दुख, द्वेष, दम्भ जल जायँ,
पुकार अनल बरसा दे!
धू धू करके जलें दिशाएँ
पाशवता का नाम नसा दे!

रसा एक अँगड़ाई लेकर
फिर से अपनी निद्रा त्यागे,
कँप जाएँ दिग्, देश, काल,
विश्वास-अन्ध युग युग का भागे।

जल जाएँ वैविध्य विश्व के
चेतनता की वह्नि-शिखा में,
डूब मरें पाषंड-पिंड
गिर अतल, तलातल की परिखा में।

अट्टहास कर उठें दिशाएँ,
युग का राग भैरवी जागे!
व्याघ्र-चर्म में लिपटा गर्दभ
मिथ्या दम्भ छोड़कर भागे!

किलक उठे काली मतवाली
रण-दुर्द्धर्ष रूप वह खोले,
हो ताण्डव का सूत्रपात, हर
प्रलयङ्कर का आसन डोले!

तारे जल अग्नि - स्फुलिङ्ग-से
सारी सच्ची बात सुना दें,
छिपी छिपाई बातों से इस
विश्व, व्योम-मण्डल को छा दें!

गिरि की गहन गुहाएँ फटकर
अपना सच्चा रूप दिखा दें,
हृदय-हीनता तजकर जग को
मानवता की सीख सिखा दें!

घहराए घन-घटा गगन में
जग को आत्मसात कर लेवे,
बरस पड़े गम्भीर-ध्वनि कर
युग-गत कर्दम को धो देवे!

हो प्रकाशमय शीतल छाया,
मानव निर्मल-पथ अपनावे,
प्रति जन, प्रति मन, प्रेम-बद्ध बन
सहज प्रेम के गीत सुनावे!

कवि! अपनी सत्यता दिखा,
जादू वह जो सिर चढ़कर बोले,
'वाणी' वह जो, मिथ्याऽहं, चिर-
अनाचार की आँखें खोले!!

४-'४०

वन्दी की अभिलाषा

मैं तो बन जाऊँगा वन्दी,
पर हृदय करूँ वन्दी कैसे ?
तू ही बतला दे अभिलाषा !
हत-गति हो कालिन्दी कैसे ?

आँखें मेरी उठ ही जातीं,
जग कहता आँख उठाना मत ;
ये रो पड़तीं बस, पल भर में
मैं कैसे इन्हें करूँ अवनत !

सारे जग की आँखें मुझ पर
मैं कहीं न आँख लगा सकता,
जग के जीते जी कभी नहीं
अपनाया धन भी सकता!

बोलना पाप, देखना पाप,
सोचना पाप, अवनी! फट जा!
मैं जाऊँ किसी और जग में
मेरे मग से ओ जग! हट जा!!

काँटों पर सुख-शय्या होगी,
जलमय मेरा संसार गहन,
जलजात-सदृश जीवन सुन्दर,
साथी होंगे नभ के उडुगन।

उर के पट पर जो मूर्ति एक
कुछ चढ़ा उसी पर अश्रु-फूल,
सिर पर धारण कर लूँगा मैं
उन श्री चरणों की पूत धूल!
(जो कण कण में नित रही भूल)
होगा भय-उत्पाटन समूल!!

८'—४०

उत्सर्ग

मा, तेरे चरणों में रहकर
कर दूँ जीवन - दान !

कामनाएँ केवल अम्लान
तुम्हारे चरणों में बलिदान !
करूँ, जैसे मधुकर मधु-पान,
भाव का नवल मृदुल आदान !

कल्प-लतिका-सी प्रकृति सकेलि
उसी में मेरा हो आह्वान,
नयन से नयन, प्राण से प्राण,
मिले अन्तर से उर अनजान,
उसी में मेरा स्वर्ण-बिहान
झाँकता हो शशि-कला-समान,

नवल, उज्ज्वल, अपलक, अम्लान!

सजाऊँ कल कुसुमों से गात
गात-सुधि से होकर अज्ञात!

तुम्हीं से आदि, तुम्हीं में अन्त,
तुम्हीं पतझड़, तुम नवल वसन्त,
तुम्हारी वाणी का वरदान
हमारे जीवन का हो गान!

उसी में मेरा हो अवसान,
अरी, वीणा-वादिनि! द्युतिमान!!

८-'४०

अमर अभिलाषा

जीवन क्या है ?
अविराम अश्रु के सागर में बहते रहना !
जीवन क्या है ?
जग-ज्वाला में चुपचाप शान्त जलते रहना !

अपनी छोटी सी नाव लिए
शत - नयनों में तिरते रहना !
अभिलाषा का उस मन्दिर के
अभितः प्रतिपल फिरते रहना !

करुणा - वारिद का नयनों में
वसु - याम उमड़ घिरते रहना !
वह रूप-सुधा-आसव छककर
कण्टक से पग चिरते रहना !

यदि यही सार, यदि यही सत्य,
हे मेरे जीवन के सहचर !
मैं कभी मुड़ूँगा नहीं, प्राण !
मैं चला चलूँगा इस पथ पर ;
होंगे मेरे अभिलाष अमर !

८—'४०

अन्तर्वेदना

बरसते थे जब नयनोत्पल,
गुलाबी सुघर कपोलों पर
खिले थे अश्रु - ओस के दल !

तड़ित-सी नभ में वह आकर
चली जाती घन बरसाकर,
भींग जाता मेरा अन्तर
बना चातक को और विकल !

हृदय किन भावों का आधार !
आह का कहीं न वारापार,
शून्य में झञ्झा की झङ्कार
रुद्ध थे हृदयोद्गार !

वहीं आसीन कपोती - दल
आज भी दीख रहा निश्चल,
वहीं स्वाती का निर्मल जल
आज भी पीता चातक चल,

वही मेरा अन्तर
आज जाने क्यों रह रह कर
बनाता नयनों को जल - धर,
खोल उड़ाता अभाव के पर !
आह, कैसा विषएण अम्बर !!

हृदय का क्या सम्बल !
मार्ग यह भव का महा विषम
क्षणिक कुसुमों का हास; न थम
कभी सकता सुख-दुख का क्रम .
न जाने कितना और गहन बनेगा यह विषाद का तम !!
हाय, रे जग निर्मम !!!

पड़े थे दो शय्या पर फूल,
चूमता एक दुकूल,
एक मुर्झाया था चुपचाप,
एक में जीवन का उल्लास
और था मुख पर हास-विकास !

देखकर मुर्झाया वह फूल
गात-सुध गई हमारी भूल ;
उठा फिर प्राणों में वह शूल ,
श्वास थे जीवन के प्रतिकूल ,
गई फिर छवि आँखों में भूल
वही अपलक, विषण्ण, सुख-मूल ,
उसी मानस के कूल !!!

और वह जो था हँसता एक
आह, ज्यों निखरा हुआ विवेक ,

कहा मैंने—"क्षण हँसलो मित्र !
जगत - जीवन-क्रम महा-विचित्र
यहाँ है अरे, देखता कौन—कौन सी वस्तु पवित्र ?
सभी कुचले जाते निशि-भोर ,
जगत के कर्म कठोर !

यहाँ होते हैं शोर ,
आज हँस लो मनमाना, किन्तु
रुदन का यहाँ और क्या छोर !
वही कोलाहल घोर !
गगन-घन में, मन में, सब ओर !!!

× × ×

गीत वे हुए मलार !
फैलकर नभ - उर में साभार
आज बरसाते दृग - जल-धार,
ढो रही आस श्वास का भार

शून्य केवल संसार
दुःख का वार न पार !!

आज वे गए बिखर
सुखों के कुन्तल शोभा-धर,
किन्तु तो भी मनहर
विरह के विकल प्रहर !

देख वे विगत-दिवस के स्वप्न
हृदय जाता है सुख से झूम,
मेघ - मालाओं को तो आज
नयन की पुतली आती चूम !!

× × ×

मैंने देखा वह चन्द्र सुघर,
जो झाँक रहा था लुक छिपकर,
उसमें थे कुछ अभिलाष अमर
कुछ गूढ़ और कुछ व्यञ्जित कर
वह हट जाता पल में सत्वर
हा, भीरु-हृदय वारिद से डर !!

वह अमर प्रेम-आकाङ्क्षा-युत
मिलने को प्रतिपल था प्रस्तुत ,

वह कला, और वह स्वर अद्भुत ,
स्वागत के वे उपकरण अयुत

स्वीकृत थे, किन्तु न उसे देख ,
रे, सकी तड़ित की वक्र रेख !!

आह, वह भोलापन !
(भाव वे उच्च, विनत चितवन)

कही उस दिन मैंने जो बात
पुलक कह उठी हर्ष - संजात—

—"अरे, सच बतला दें अब आप
जानते जादू ?—

मैंने रात
हृदय में सोची थी जो बात ,
बता दी ठीक ठीक अज्ञात !"

गात की सुध बिसराती रही प्रिया की सुध आ सायं-प्रात !
हाय, कैसा यह घात !!

आह, जब मृदु बादल
विकल रो पड़ते बन चञ्चल,
भींगता अम्बर - अवनी - तल ;
किन्तु हम दोनों चल
वही वट का अञ्चल
बनाते आतपत्र विह्वल,

जगत का कोलाहल था जहाँ सो रहा छाया में निश्चल,
विश्व की आँखों से ओझल !!

कहाँ वे दिन पागल !
लिए कर में पतङ्ग की डोर
उड़ाती थी पतङ्ग - सा मन,
सिहर उठता सब तन,
उड़े थे रोम - रोम खग बन

वही पर्वत-सन्निभ-प्रासाद जान पड़ता मुझको निर्जन !!
व्याल-सा फैलाए विष-फन !!!

८—'४०

ग्रीष्म-दिवस

सहज शिथिल, मन्द्र विपुल तरुवर-गन छाए,
त्यक्त-नीड़ विहग-भीड़, करुण-रव सुनाए!

गो-गण रोमन्थ निरत,
सिंह-करी वैर-विरत,
विश्व-शान्ति रविकर-गत
पङ्कज मुर्झाए!

शान्त सकल उछल कूद,
तप्त सरित-वारि-बूँद,
पान्थ-निकर आँख मूँद,
तरु-तल छिति छाए!

वारि-विकल सृष्टि सकल,
ताप-निरत अम्बर-तल,
रुद्ध-तान कोयल कल,
चातक चुप लाए!

लघु हों अथवा महान,
लुप्त सकल भेद-ज्ञान,
संतत सब हैं समान,
ग्रीष्म-दिवस आए!

५-'४०

बादल

मैं आकर के इस जगती पर
करता हूँ छाया का प्रसार,
बन्दी-आत्मा करने विमुक्त
खोलता हृदय के रुद्ध द्वार।

मैं खड़ा क्षितिज की रेखा से
देखता जर्जरित मानव को,
विद्वेष-मुग्ध, रत-अहङ्कार,
गत-संस्कृति, उद्वेलित-भव को।

करने प्यासों की तृषा शान्त
कर विमल सलिल का उपादान,
मैं बढ़ता आता हूँ पग पग
करने भव का नूतन विधान।

पहले मेरा करने विरोध
आ जाता है घन अन्धकार,
मैं करता कड़क कड़क उस पर
मूसलाधार भीषण प्रहार।

वन, उपवन, गहन निकेतन के
ताकते जीव अनिमेष-नयन,
जाने, इस क्षण-भङ्गुर तन में
छाया है कितना आकर्षण!

नव कल्पित, निज शासित भव में
करता मैं इतना शान्ति-सृजन,
निर्द्वंद्व, मुक्त, गत-क्लेश सतत
सोते रहते हैं शेष-शयन!

कितने सत्वर इस जीवन का
होता मेरे उत्थान-पतन,
पर हरित, भरित, कूजित, गुञ्जित
कर जाता हूँ जग का उपवन!

मैं कामरूप अवसर विचार
धारण कर त्रिगुणात्मक शरीर,
चलता हरने जग का विषाद
लेकर अपना वाहन समीर !

भव-हित आकर के भी रहता
संस्पर्शज दोषों से विमुक्त,
पङ्कज-सा पङ्किल जगती से
ऊपर प्रतिपल प्रतिरोध-युक्त !

पल पल पर मैं करता रहता
निज सहज रूप में परिवर्तन,
जैसे जैसे उर - अन्तर के
भावों में होता आवर्तन !

जब जब होता अवनीतल में
विद्वेष-वह्नि का विप्रसार,
तब तब उसका करने विनाश
मैं लेता हूँ जलदावतार !

मेरे आ जाते ही भव में
हो जाता नव-जीवन-विकास,
अवसाद-मुक्त, नवराग-युक्त
जग लेने लगता सहज श्वास !

मेरे आगम के साथ साथ
हो जाते कितने परिवर्तन,
चातक-कुल में पावन प्रगीत,
केकी-कुल में विस्मित नर्तन !

इस विषद-विपथ-उन्मुख-भव में
कर नव-संस्कृति का शिला-न्यास,
इस पुण्य-पुरातन-वसुधा में
कर जाता चिर गौरव-विकास !

कितने ही प्राण-निकुञ्जों में
भर दी जुगनू-सी रूप-ज्वाल,
आलोक-बलित हो उठी सहज
जग-वन-उपवन की डाल डाल !

जब प्यासे नयनों से मुझको
देखेंगे पृथ्वी के कण कण,
मैं कविता-सा आ जाऊँगा
रखता मद-गति से मृदुल चरण !

७-'४०

*

संस्कृत-हृदय से

सङ्ग-हीन ! हे मुक्त ! विगत-विभ्रम, प्रलयङ्कर !
ओ संस्कृत-उर ! पन्थ कण्टकाकीर्ण-भयङ्कर !
ओ कोलाहल-लीन ! पीन-एकान्त-निवासी !
विपुल-विभव-रत-विश्व-लोक के प्रबल प्रवासी !

अहे, दम्भ के द्रोह ! अनश्वर-नियम-विधायक !
अहे, अबल की शक्ति ! असम्बल सम्बल-दायक !
अहे, प्रज्वलित - वह्नि - क्रोड़ - गत - क्रीड़ाकारी !
ओ संहृति के अग्रदूत ! नव संस्कृति-कारी !!

ओ समष्टि के प्राण ! व्यष्टिगत-स्वार्थ-निपातन !
गौरव के वर शिखर ! अगौरव-गौरव- कारण !
ओ झञ्झा के वेग ! रुद्र के भीषण ताण्डव !
ओ भैरव के अट्टहास ! सम्प्रति युग-जन-रव !!

युग-मानव नैराश्य में, दिखलाओ निज रूप नव !
तज देवें मण्डूक-गण, गतानुगति के कूप जव !!

७-'४०

आकाङ्क्षा

मानव का मानव-मन से
सम्बन्ध सरल सुन्दर हो !
अभिलाषा की उलझन में
चिर-प्रणय-ग्रन्थि सुखकर हो !

जग के सुख स्वर्ण-विहग-से
उर-तरु पर उड़ उड़ कूजें !
भौतिक-भय से आत्मा का
अवरोध न कहीं प्रखर हो !

कलि के अस्फुट अधरों को
खर पवन न रुक्ष सतावे !
स्थल-कमल सदृश शुचि
उज्ज्वल प्रतिपल, प्रत्येक प्रहर हो !

वे प्रलय - काल तक सोवें
संशय की व्याकुल घड़ियाँ !
अनुराग-उषा से रञ्जित
मानस की लहर लहर हो !!

७-'४०

आह्वान

मा, मञ्जुल मङ्गलमयि ! आओ !

मधुर स्नेह पुलकित पलकों में ,

पूरित-भाव-कलश छलकों में ,

अपना शीतल कर-तल शिर पर धर शिशु को नहलाओ !

चन्द्रोज्ज्वल-मुख देख तुम्हारा

प्रेम-पूर्ण होवे दृग-तारा ,

फूट कण्ठ से जो स्वर निकले माँ, नभ में फैलाओ !

शीतल, सुरभित मलय-अनिल कल

विलसित जल, स्थल, अम्बर, दिशि, पल ,

माँ, मधु-वर्षिणि ! स्वर-लहरी से विश्व विमोहित पाओ !

अग जग झूम उठे मतवाला ,

चलो पिलाती मधु-रस-प्याला ,

कण कण ज्योतित कर दो मा, सब में निज रूप दिखाओ !

मा, मञ्जुल मङ्गलमयि आओ !

१०—'३१

जलद से

ओ, जलद ! तिरोहित हो जा
अब बहुत कर चुका विचरण,
चिर-सञ्चित निज जीवन-धन
कर चुका विश्व में वितरण।

स्वच्छन्द निरापद रहकर
जो तूने ख्याति कमाई,
आबद्ध-नियम-प्राङ्गण में
किसने वह निधि अपनाई ?

तूने इस अम्बर तल को
शीतल, निर्मल कर पाया,
उपकार समूह तुम्हारा
जाएगा नहीं भुलाया !

पर देख इधर प्राची में
अवरुद्ध-द्वार खुलवाए
जग के हित की इच्छा को
अन्तस्तल बीच छिपाए !

निज यशःप्रभा से मण्डित
भासित दिगन्त को करने,
कण्टकाकीर्ण-पथ-आक्रम-
आदर्श लोक में धरने,

शिशु-शशि अबाधगति द्वारा
निर्भीक चला आता है,
पथ-बाधाओं को लखकर
वह कभी न घबराता है।

उस अरुण प्रभा से देखो,
है क्षितिज-प्रान्त परिमण्डित,
पर तुमने अखिल प्रकृति को
कर रक्खा है अवगुण्ठित।

इस तमःपूर्ण जगती में
आलोक उसे लाने दो,
अब अन्तर्हित हो जाओ
नव प्रतिभा फैलाने दो !

११-'३६

वरदे !

उथल पुथलमय

उत्पल - जलमय,

अनिल - अनलमय

जीवन कर दे !

अचल सचलमय,

निर्बल बलमय,

कल सम्बलमय

वर्त्मन कर दे !

अतन सुतनमय,

घन सावनमय,

सदन स्वजनमय

शोभन कर दे !

सम्पति रतिमय,

मति भारतिमय,

प्रीति प्रणतिमय,

पावन वर दे !

४-'४०

सन्देह

दावानल - सा सन्देह विश्व में फैला
रे, विश्व-वृक्ष जलती थी प्रति डाल !
जीवन - निधि को निज अन्तर बीच छिपाए
उर बैठा था बन कर प्रह्लाद प्र-बाल ।

मैं हाथ धो चुका था पहले ही उससे
पर आँखों में था आशा का आभास ,
यद्यपि कुचली थी गई विश्व के द्वारा
पर अभिलाषा थी भरती ठंढो साँस ।

भोंहों पर घिर घिर आते घन सावन के
वह थी आशायित आशा के विपरीत ,
था पता कहाँ जो हैं मकरन्द - विनिर्मित,
वे बन जाएँगे कभी अनलमय गीत !

हो सेतु-भङ्ग मिल सकें न तट आपस में
इसलिए हिलाते सब धरती, आकाश ,
थे देख न सकते सरिता की कल-धारा ,
क्यों ? रहा न उर में उनके प्रेम-प्रकाश ।

४-'४०

सुमन से

तुमको यों हँसते लखकर
हैं मुझको रोना आता,
हे सुमन ! मुझे तो क्षण भर
अब हँसना नहीं सुहाता।

मैं देख तुम्हारा हँसना
हे, कैसे इन्हें भुलाऊँ !
धूलों में मिलते हीरे,
कैसे इनको ठुकराऊँ !

तुम पर तो मेरी आँखें
अब आज नहीं टिकती हैं,
इन आह, कराहों पर ही
बेमोल विकल बिकती हैं।

जिस ओर आँख है जाती
कुछ और न मुझे सुहाता,
झोपड़ियों का ही कोई
मुझको है मार्ग दिखाता।

यह उसी ओर से, देखो,
प्रिय अनिल चली आती है,
व्याकुल अस्पष्ट स्वरों में
उनके ही गुण गाती है।

तरुवर चुप चञ्चल बन कर
ये जो हैं हाथ उठाते,
बस उसी ओर बढ़ने का
केवल सङ्केत बताते।

कब से चिल्लाकर सारी
चिड़ियाएँ यह कहती हैं:—
"फूलों से फिर मिल लेना,
ये झोपड़ियाँ दहती हैं।"

ये देखो, सारे भौंरे
जलकर भागे आते हैं,
ठहरो, ये आकर तुमको
सब बातें समझाते हैं।

बस, पल भर भी अब मुझको
    है रुकना नहीं सुहाता,
ज्वालाएँ जोड़ रही हैं
    अब अन्तरिक्ष से नाता !

बस, एक बार तुम भी, हे !
    जल उठो ज्योति में अपने
क्षण भर को आज भुला दो
    सुख के वे कल्पित सपने !

फिर उन्हें शान्ति दे करके
सकुशल यदि लौट सकूँगा,
हँस हँस कर बातें करते
फिर तुम से नहीं थकूँगा।

२-'४०

सूखते पौदे से

तुम परम पिपासित, विकल विश्व के पौदे !
क्यों खड़े आज चुपचाप निपट निरुपाय ?
क्या माली के आने की अब तक आशा
है बनी हुई मुझ - सी ही तुमको, हाय !

तुम नीरव, निश्चल, अपलक आँख उठाए
पथ देख रहे हो किसका ? कौन महान
सर्वस्व तुम्हारा लेकर हाय, बटोही
है गया भूल या पड़ा विश्व - व्यवधान ?

है विकल दौड़ता आज भ्रान्त - सा होकर
पवमान श्वास का पाकर तप्त - स्पर्श,
सच कहो भूमिरुह ! तव अन्तस्तल में भी
होता रहता क्या मुझ - सा ही संघर्ष ?

५-'४०

स्वर्गामी शिशु के प्रति

क्यों आज भूमि, द्यौ ध्वान्त,
प्रकृति उद्भ्रान्त,
प्रलय की छाया!
कल कल निनाद आक्रान्त,
शान्त पर अनिल,
न कल की माया!
सौरभ, सुवास को छोड़
चले मुँह मोड़
विश्व से,
किस अनन्त की क्रोड़
तुम्हें थी प्यारी?

बोलो तो क्षण भर,
मैं हूँ कब से बुला रहा,
तुम शान्त, मौन - व्रत - धारी !
आभारी तो हैं दिग्दिगन्त,
परमाणु विकल,
आलोक - रश्मियाँ तुम्हें चूमने आतीं
क्या पातीं ?
पछतातीं,

धीरे स्खलित - गत
चिर - स्नात !
तुम्हारे चिर वियोग में रोतीं और रुलातीं !!
वह मधुर कर्ण - प्रिय किलक

आह,
जग - तिलक !
गई किस ओर ?
छोर मैं पकड़ न पाया अंचल का,
अवरुद्ध।

शुद्ध हे बुद्ध !
तुम्हारी क्रीड़ा—
आह ! भुला दूँ कैसे
सूनी माँ की गोद ;

चले तुम किन गलियों से
करते शान्त-विनोद ?
न साधन करने का अपनोद
दुःख के,
क्षण क्षण ऊर्जस्वित है पीड़ा।
सुप्त है वीणा की झङ्कार,
सुप्त वाणी के सब व्यापार,
हुए तुम इसी हेतु क्या सुप्त ?
जलधि - उत्ताल-तरङ्गित-धार,
कहीं दीखता न वारापार,
छोड़ इस नौका को मँझधार !!

सुप्त लख हे चिर-निद्रित पथिक !
जगाने चली जागरित देवि—
देख लो हंस-वाहिनी आज
छोड़ सब निद्रा के सुख-साज,
द्वार पर खड़ी क्लान्त, निर्व्याज।
अतिथि ! दो शब्द, नहीं कुछ और
भाव के भावुक !
जग-सिरताज !!

वसन्त
२-३-४०

हा दिनेश !

कह दे मा ! था वह कौन देश !

थी कौन घड़ी, था कौन प्रहर ?

कैसा सागर, थी कौन लहर ?

था कौन भानु, सितभानु कौन ?

थी कौन भृकुटि वह प्रलयङ्कर ?

जब चला शान्त वह पथिक आज सब त्याग विश्व का राग, द्वेष !

चुप चाप शान्त सो रही, त्याग—

चल दिया सकल ममतानुराग,

मा ! खुलो आँख, वह कौन युवक ?

कह गया जाग रे ! जाग !! जाग !!!

थी कौन मूर्ति, कैसी मुद्रा, भावना कौन, था कौन वेश ?

वीरों की नई निशानी - सी
जानी कुछ, कुछ अनजानी - सी,
पहचानी, अनपहचानी - सी,
अवशिष्ट अतीत कहानी - सी,

दे गया मञ्जिता क्लान्ति, भ्रान्ति, आपूर्ण ग्रथित-सविशेष-क्लेश !

× × ×

कर निशा, दिशा सूनी करके,
यश-विस्तृत-अम्बर - तल तर के,
इस चतुष्प्रहर दिन - जीवन को
मा ! केवल एक प्रहर करके,

अस्ताचल के किस अञ्चल में छिप गया जाति-गौरव 'दिनेश'[१] ।

कह दे मा ! था वह कौन देश !

वसन्त,
२-'४०

१—इनकी अवस्था केवल २५ वर्ष की थी ।

प्रश्न

कब दोगी मा ! अभिलषित वास !

मन की अभिलाषाएँ सारी
अग्नि - स्फुलिङ्ग - अनुकृति - कारी,
लेकर निज जीवन - ज्योति-पुञ्ज
खिल पड़े विश्व - क्यारी - क्यारी,

अवगुण्ठन-हीन सदाशा का हो जाय प्रकट प्राकृत विकास !

कब दोगी मा ! अभिलषित—!

आकर्षण - प्रत्याकर्षण में
हो रहे व्यर्थ कितने प्रयास,
कितनी सुषमा के पुञ्ज लुप्त,
कितने जीवन गत-गति उदास,

सहजोपलब्धि की छाया में कब होगा मानव विगत-त्रास !

—मा !—

क्या पता कि सूने आँगन में
कितनी झञ्झाएँ झूम रहीं!
क्या पता कि कितनी ज्वालाएँ
बढ़ अंतरिक्ष को चूम रहीं!
रे, कितने ज्वालामुखी मौन लेते प्रचण्ड परितप्त श्वास!
—मा!—।

शैलाधिराज - हृग्द्वारों से
शत शत धाराएँ फूट पड़ीं,
जननी के अञ्चल से कितनी
मणि-मालाएँ हैं छूट पड़ी,
अणु अणु विस्पष्ट कराने को कब होगा भैरव-अट्टहास!
—मा!—

कब सोई, थी जो जाग रही!
कब बुझी, जली जो आग रही!
जीवन-निशीथ की घड़ियों की
अनुरञ्जित राग बिहाग वही,
कह दो अब और प्रतीक्षा में कितने युग, कितने वर्ष, मास?
कब होगा मा! अभिलषित वास!!

२-'४०

अट्टहास

तुम कर दो भैरव, अट्टहास !

जगती के तुच्छ, कदर्य्य भाव सब आज भस्म हो जावें,

हम उसमें सच्ची शान्ति-दायिनी जीवन-ज्योति जगावें।

सन्ताप-क्लिन्न, कलुषित कराल

अत्याचारों का नर्तन,

क्लम, पीड़ा, दैन्य, विषाद,

भैम आवर्तन, प्रत्यावर्तन,

गिरि-गहन-गुहा के अन्धकार

भीषण-प्रहार

दुस्तार - धार

जग-हाहाकार-प्रवर्तक,

हो जाएँ क्षण में क्षार क्षार

विस्फार - द्वार

अमितांशु-विद्ध

परिणताकार

विच्छुरित-प्रभा-संवर्द्धक !

सब जलें आज वे अन्धकार ,

बन घनाकार

निकले प्रकाश की ज्वाला ,

सब क्षितिज-प्रान्त आक्रान्त-तिमिर

हँस दे बिखेर उजियाला !

जिनके कराल थे नेत्र न जाते नीचे ,

उन्मृष्ट - अस्थि - चर्म्मावशेष-कङ्काल

कुचलते ,

खींचे

रे, गए चर्म्म. जिनके

शोणित की धारा ,

पा विकट तमिस्रा-कारा

अवनी में अन्तर्लीन ,

उसे सब देखें

अब खोल स्वच्छ दृगतारा।

रे, वह थी कैसी क्रीड़ा !
थी एक मात्र साधन बनती
जिसका दुखियों की पीड़ा।

ये हँसें, और वे रोवें,
ये पुष्प-राशि पर सोवें,
वे बन विवस्त्र, रे क्षीण त्रस्त,
जठराग्नि-ग्रस्त,
सह दुसह अस्त्र
नाना पीड़ा क्लेशों के
आँसू से अञ्चल कब तक और भिँगावें !!

वे अङ्ग इन्हीं के हुए आवरण-हीन
सब भाँति दलित, कृश, दीन
यदि त्याग इन्हें वे जावें,
ये कहीं न आश्रय पावें
जगती में,
सौरभ - हीन
ये खिले पुष्प मुरझावें,
पग-तल में रौंदे जावें;
पर इनको पता कहीं न;
आती कब इनको
स्वकर्तव्य पर व्रीड़ा !

करते कण्टकमय राह,

मकरन्द छोड़कर इन्हें धूल की चाह।
सब बने भिखारी इनके सम्मुख आते
पर बने रहेंगे देखें कब तक शाह!
है इन्हें न कुछ परवाह,

पर उधर देख लो:—
विश्व फूँकती आती
अन्धेर मचाती
आर्त-कण्ठ की आह!

आ जावे उल्कावाला,
वह चले ग्रीष्म मतवाला,
ले प्रलयकाल की ज्वाला
वह एक बार ही हाथ फेर कर जावे
फिर धूम-राशि छा जावे
रे, धुआँधार!

संहार!!!

वर्षा की शीतल छाया
पा एक साथ रोमाञ्च धरा को होवे,
अणु अणु में व्यथा पिरोवे,

लख उसका पावन भ्रू-विलास
सब साभिलाष
तज कर प्रवास
आ जावें ;
सरसावें
अपना सुन्दर स्वर्गिक सुख-निवास ;
आलोक - भास !
तुम कर दो भैरव ! अट्टहास !!

२—'४०

तरुण से

रे. विश्व-हेतु,

वैभव-विशाल,

कल्पना-कलित कड़ियों से कोसों दूर !

तू बैठा है चुपचाप !

क्या तेरे कोमल, कठिन करों में नहीं विश्व की डोर ?

क्या तेरे मुख की ओर

है नहीं ताकती

जीर्ण, शीर्ण, विभ्रान्त, क्लान्त, शत शत पीड़ाओं द्वारा

विच्छिन्न, क्लिन्न, अपहृत, शोषित,

पद - मर्दित मानव - जाति !

रे, यह कैसी अतिपाति !

लख उन नयनों की कोर

जो विह्वल प्रेम - विभोर !

व्याकुलता स्वयं निरख कर

हो जाती क्षण भर कर्म-हीन, अनुताप-लीन,
अनुताप स्वयं निज खोकर !
कर्तव्य भूल, सरिता के नीरव-तट पर
रे, यह कैसी अनुरक्ति !
बतला दे कौन विरक्ति !
वीणा के नीरव तन्त्र,
तू एक बार प्रलयङ्कारी निज कर को
दे फेर,
देख फिर झङ्कृत सकल दिगन्त,
देख बाधाओं का फिर अन्त !
उत्तुङ्ग, भीम, भैरव-शरीर यह भूभृत्
होकर झञ्भा प्रतिफलित जहाँ से आती;
मुखरित दिगन्त होता है जिसके द्वारा
उत्ताल-तरङ्गाकार-धार-परिवेष्टित
जो निज अङ्कम में सदा छिपाता भू को,
(जो कम्पित उसमें सदा उडुप की भाँति,)
अम्भोधि जिसे कहते हैं अभिहित करके;
आकर तेरे चरणों में होंगे लीन।
यह तेरा एक घरौंदा छोटा-सा है,
तू कर दे इसको कुछ का कुछ,
फिर हो जा यहीं विलीन !!

१०-'३८

गीत

जलती ज्वाला को रहने दो !

जग सौ उपचार बताता है,

कैसा क्या क्या सिखलाता है,

जो कुछ आए उसके मन में सुख से उसको सब कहने दो !

जलती ज्वाला को रहने दो !

झञ्झानिल रह रह बहता है,

उपवन-तन दह दह दहता है,

कितनी शीतलता है इसमें मुझको सुख से सब सहने दो !

जलती ज्वाला को रहने दो !

जल कर नभ ने मोती पाए,

जलकर विटपी-कुल हरियाए,

जल कर सरिता है बह निकली, मत रोको उसको बहने दो !

जलती ज्वाला को रहने दो !

जलकर यदि हो उनका दर्शन,

उड़कर होवे चरण - स्पर्शन,

स्मृति-पथ से लीन बनूँ उनमें, जग के सहने न उलहने दो !

जलती ज्वाला रहने दो !!

३-'३६

गीत

भावना का मैं भिखारी।

त्याग चञ्चलता सदा की,

मौन बन, अति विनत होकर,

युग-दृगों के अश्रु-कण में

कुछ करुण सन्देश लेकर,

आज वह सम्मुख खड़ी थी आफ़तों की हाय, मारी!

भावना का मैं भिखारी।

मौन ही उर थाम कर मैं
भी खड़ा हत-चेत सा था,
मूक थी जिह्वा, हृदय में
हो रहा सङ्केत सा था,
एक ही उर, हाय रे ! क्यों हो गए दो देह-धारी !
भावना का मैं भिखारी।

शिथिल थे अवयव हमारे,
मन्द थे युग नयन-तारे,
वेदना आकर खड़ी थी
हृदय के मेरे सहारे,
कह रही थी विगत की उससे कथाएँ आज सारी !
भावना का मैं भिखारी।

कुछ न देखा और भाला,
दूर कर सारा कसाला,
विश्व के उस पार मैं था
जा खड़ा करके उजाला,
प्रणय-मन्दिर का न बनता आज कैसे मैं पुजारी ?
भावना का मैं भिखारी।

४—'३६

गीत

अपलक घट भर कर ढर न पड़े !

रस रस कर करके जीवन भर

अवसर अवसर पर भर पाया,

चल सकल अचल, चल का अञ्चल

कल मचल मचल कर लहराया,

प्रमुदित तरु-वल्लरियों का वन—

झर झर कर करके झर न पड़े !

अपलक घट भर कर ढर न पड़े !

कल राजहंसिनी - सी सरिता
कल कल करती बेकल निकली,
वल्कल दुकूल धर कर, सत्वर
जीवन-धन पर बनठन निकली,

रस-हन बन कर तन घन पाहन-
बरबस पथ पर—आकर न अड़े !
अपलक घट भर कर ढर न पड़े ॥

दर्शन बिन दुख घन, अतन-दहन
कर सहन सकेंगे क्षण प्रति क्षण,
केवल अवलम्बन ध्यान बना—
कर मगन रहेंगे जन प्रति जन,

अन्तर-पट के चल-चित्रों में
रूपसि ! अणु भर अन्तर न पड़े !
अपलक घट भर कर ढर न पड़े !!

३-'३६

प्रतीक्षा

मैं याद कर रही प्राण ! खड़ी चुप कब से,
तुम आते हो क्यों नहीं, कौन अपराध ?
युग युग की प्यासी आँखों में जो बैठी
क्या कभी न होगी पूरी मेरी साध ?

मैं समझ रही हूँ कारण है जो इसमें
क्यों तुम्हें हो रहा आने में सङ्कोच ,
क्या नहीं पास है मेरे, जो धन देकर
बन जाते कितने प्राण मुक्त, गत-शोच !

पर यही समझती हूँ मैं जीवन ! तुमको
है नहीं बाँध सकता विशाल उत्कोच ,
तुम सतत मुक्त, स्वच्छन्द विचरते रहते ,
देखा करते प्रति उर में कितनी लोच !

आओ, मत आओ, करो हृदय का अपने ,
पर मुझे हुआ कब, होगा कब सन्तोष !
हाँ, सुन लो हुई तुम्हारी मैं, तुम मेरे ,
तुम करो प्यार, किंवा दिखलाओ रोष !

३-'४०

गीतों के प्रति

मैं तुम्हें प्रवाहित करता हूँ
तुम उड़कर अम्बर में रहना,
अड़ना न किसी की आँखों में,
बन स्वप्न कभी कुछ कह पड़ना!

'तुमसे कुछ मेरा प्यार नहीं'
मत ऐसी मन में ले आना,
जगती की क्रूर भृकुटियों ने
तुमको तुम-सा कब पहचाना?

इसलिए विवश की बातों का
मत उलटा अर्थ लगा लेना!
हट पङ्किल इस जगती-तल से
नाविक! अपनी नौका खेना!

तुममें है मेरा हृदय निहित,
तुम मेरे प्राणों के सहचर;
जाओ, पर आ जाना जब हे,
आह्वान करूँ अपना कहकर।

× × ×

कब मेरे प्राणों तक तुम हे,
चुपचाप उतर कर आए थे,
कब चिन्ता के वे बादल-दल
उर-अन्तर में मँड़राए थे!

क्या मिट सकते वे मानस के
जो अङ्कित हो आए मधुक्षण!
रे, नाच रहे उन घड़ियों के
भोले भाले तृण तृण, कण कण!

जब उबल पड़ा रस मानस में
मैं रोक न पाया था उसको,
बह चलीं शतमुखी धाराएँ,
टोकता आह, मैं किस किस को?

आकुलता, उलझन, परवशता
के रोड़ों से वे टकराकर,
रुक सकीं कहाँ रे, वे क्रमशः
बढ़ती ही गईं प्रखर, खरतर!

× × ×

विस्तृत दिगन्त की छाया ले ,
खग-कुल के कलरव की कम्पन ,
चल तरल लहरियों की कलकल
मधु-भ्रमर-पुञ्ज की शुचि गुञ्जन ,

चुन चुन तेरा निर्माण किया
दे प्राण तन्तु की मधु गुम्फन ,
तुम छा जाओ बन रश्मि-राशि ,
मन नाच उठें, खिल पड़े गगन !

कैसे कह दूँ हे, जाओ तुम
तजकर मुझको इस जगती पर ,
कैसे तुम में ही मिल जाऊँ
हे रूप-हीन ! हे मुक्त !! अमर !!!

३-'४०

आग्रह

मा, कह तेरी शिथिल शिञ्जिनी आज हुई क्यों सहसा !
विनयावनत बालपन मेरा करता कुछ आग्रह-सा !!

देश-काल का ज्ञान लुप्त
निस्पन्द दिशाएँ सारी,
जीवन-हीन सुमन मुरझाए,
निष्प्रभ क्यारी क्यारी !

चिर विरमित ये तन्त्र आज
युग-कोरक देख रहे हैं,
'गत-गति जीवन नीरव निष्फल'
कर उल्लेख रहे हैं।

एक बार झङ्कार उठे मा!
जाने या अनजाने,
चलित ललित लहरी पर
फिर से नाच उठें मस्ताने!

आश्रय-हीना-सी वह वन वन
भटक रही दीवानी,
मानवता की चिर-विस्मृत
अपनावें प्रेम-कहानी।

घनीभूत - रस - धारा - प्लावन-
क्षालित - अवनी - तल हो,
प्रेम-पाश-बन्धन-हित जन-मन
फिर क्षण एक विकल हो।

नव-भावाङ्कुर भरित धरा का
अञ्चल हरित दिखावे,
लघु-महान मिल एक रूप हो,
क्रम से लहरा जावें।

प्रेमामोद दिशा-विदिशा में
आकुल बन छा जावे,
स्वयं-वरित सुख-राशि हृदय की
नर सुख से अपनावे!'

× × ×

क्रान्ति निज कहना हृदय की भूल है,
विश्व के मन में कसकता शूल है;
क्या करूँ चुप भी रहा जाता नहीं,
शान्ति-हित कहना सदा अनुकूल है।

४-'४०

समाधि की घास से

हे समाधि की घास! उसे
किस हेतु छिपाती जाती हो?
अपने अञ्चल से ढँकने में
कह दो क्या सुख पाती हो?

जो प्रशान्त शीतल शरीर को
अङ्कम में लपटाती है,
वह समाधि की वेदी, ज्वाला
तेरी अरे, घटाती है?

वो तुम छोड़ो, हटो आह !
अब मुझको तन्मय होने दो,
इस उर की प्रत्येक शिरा में
उसको व्यथा पिरोने दो।

जाने, तुम क्यों झूम रही हो,
किस अतीत की छाया में !
सत्य नहीं वह, उसे भुला दो,
भटक रही किस माया में !

तेरी हरियाली से मुझमें
क्या हरियाली छाएगी ?
लिए ओस कण खड़ी, अरे
क्या उससे प्यास बुझाएगी ?

उस उर की अनन्त अभिलाषाएँ
क्या बढ़ती आती हैं ?
और तुम्हारे अञ्चल में छिप
छिपकर वे मुस्काती हैं ?

वन-देवियाँ यहाँ आ प्रतिपल
आँसू बरसा जाती हैं,
और तुम्हारी स्मृतियों को
यों नित्य नवीन बनाती हैं।

देखा कितनी बार, यहाँ जब
सूर्य्य-रश्मियाँ आती हैं,
तुमसे कितने भाव-रत्न वे
चुरा चुरा ले जाती हैं!

छिपकर कितनी बार यहाँ तक
चन्द्र-कला भी आई थी,
वह भी तो अपने रहस्य को
क्षण भर छिपा न पाई थी!

जिस क्षण तेरे अश्रु-कणों में
मुझे आत्म-दर्शन होगा,
उसी समय मेरा जीवन, तव
चरणों में अर्पण होगा।

४—'४०

विदा

परिचय का केवल ज्ञान सत्य,
हैं नहीं सत्य साधन उसके;
है अमृत सत्य कब हुआ? किन्तु
थे सदा सत्य कण कण विष के।

अम्बर की है नीलिमा सत्य,
कब रहे सत्य आकार, रूप?
कब सागर का जल रहा सत्य?
पर रहे सत्य मरु-कण अनूप।

कब सत्य चाँदनी का प्रकाश?
पर अटल रही केवल छाया;
आना था केवल सत्य, किन्तु
कब रहा सत्य जो था आया?

४-'४०

विवशता

कैसे अपना चिर रहस्य मैं तुमसे आज छिपाऊँ !
अरे, आज सब भाँति शक्ति से रहित स्वयं को पाऊँ !

नहीं संवरण - शक्ति हृदय में पिछली आज निशा की,
चिर चञ्चल जीवन यह मेरा हुआ शून्य, एकाकी !!

हृदय - भार लेकर जब निकलूँ पर्ण - कुटी के बाहर,
आतीं अश्रुमुखी वल्लरियाँ सह - अनुभूति दिखाकर।

कामरूप प्रत्यूह हमारे मन - मन्दिर में आकर,
पल पल विकल कर रहे कण कण कीर्ण, शीर्णतर, जर्जर।

आशा - तन्तु लगा है,
मेरे प्राण ! यही बतलाओ,
आओगे ? या नहीं आरहे ?
यह द्वैविध्य मिटाओ !

१-'४०

तितली

उड़ रहीं क्योंकर तितलियाँ

आज दिशि दिशि भ्रान्त उन्मन ?

प्रति सुमन के पास जाकर ,

मौन स्वर में कुछ सुनाकर ,

पर न अभिमत दान पाकर

घूमतीं हैरान वन वन !

आज दिशि दिशि भ्रान्त उन्मन !!

निज परों की सौम्यता पर,
आज शत मनुहार लेकर,
हृदय के गुरु - भार मग्नप्राय—
आशा - तरणि खेकर,
खोलतीं जग के पुलिन पर बैठ क्यों नियताप्त बन्धन?
आज दिशि दिशि भ्रान्त उन्मन!

एक हम लघु दल बनावें,
किन्तु निज - पर भूल जावें,
रूठतीं ये, पास जाकर
क्यों न हम इनको मनावें?
फिर सभी मिल गीत गावें प्रेम के,
हो शान्त रे मन!
आज दिशि दिशि भ्रान्त, उन्मन!

१-'४०

सान्ध्य नीरद से

किस ओर चले जाते हो
प्रिय नीरद ! हमें बताओ,
वह मौन समस्या जिसमें,
यों उलझ पड़े समझाओ !

तुम-सा ही, शून्य-हृदय में
मेरे, भावों का नर्तन
छा लेंगे आज उमड़ कर
ये गगन, गहन वन, उपवन !

झञ्झा में चल किसलय-सा
अनुराग-नवल लहराता,
हँसते कुसुमों में छिपकर
कोई कुछ है कह जाता !

दिन के शशि - सा मेरा मन
हो जाता उन्मन उन्मन,
हैं छिपे हुए नयनों में
हँसते चाँदी के उडुगन!

हा! गया सभी कुछ मेरा
रह सका न मैं भी अपना,
सुख दुख क्रम से थे आए,
दुख रहा, हुआ सुख सपना!

इस जड़ जगती से ऊपर
हो लिए मनोज्ञ बसेरा,
कुछ मुझे बता दो
तुम - सा हो जाए जीवन मेरा।

तुमने तो जाने कैसे
सोने का लोक बसाया,
स्वागत में स्वर्ण - विहग ने
सोने का गान सुनाया!

मेरे अन्तर में प्यारे!
सोने का लोक बसाओ,
मेरे जलमय गीतों को
अपनी ज्वाला दे जाओ!

८-'४०

अभाव

कहाँ गए वे दिवस, कहाँ वे स्नेहालिङ्गन?
कहाँ विश्व का विभव, कहाँ वे रवि, शशि, उडुगन?
चातक के उन्माद, कहाँ भ्रमरों की गुञ्जन?
आज शून्य रे, शून्य! आज हैं शून्य नयन, मन!!

कहाँ विटप, नव लता, सुमन-सङ्कुल वन, उपवन?
हँसता कहाँ प्रभात, कहाँ सन्ध्या स्मित-आनन?
कहाँ चञ्चला-ज्योति कहाँ रे, वे पागल घन?
कहाँ गया, रे कहाँ आज जग का जीवन-धन?

× × ×

तुम्हारे ही अञ्चल में देव !
विश्व-छवि अन्तर्हित नव-जात ,
उसी में रवि, शशि, उडुगन लीन,
उसी में सन्ध्या और प्रभात !

बिछाकर इन्द्र-जाल-सा जाल
समझ शिशु को अबोध, अनजान ,
हमारे रुचिर खिलौने छीन
कुचल देते मन के अरमान ?

रुलाने में मेरे शिशु को
तुम्हें मिलता है मोद महान ?
रुला लो, नहीं चाहता और
खिलौनों का कुछ नवल विधान !

आज मेरा नन्दन ,
तुम्हारे पैरों कुचला, हाय !
न जाने कितने मन ,
कुचलने को अ-गेह असहाय ?

आह, कितने भीषण ,
तुम्हारे होते मर्म्माघात !
हाय, कितने अकरुण ,
तुम्हारे भीषणतम उत्पात !!

भला किस ऊषा से
सजाऊँ अपना नवल प्रभात !
तुम्हारे रहते हो ,
खिलाऊँ कैसे कल जलजात !!

तुम्हारा ही तो खेल
देव ! यह फैला है सब ओर ,
तुम्हारे ही उद्वेल ,
मिला देते अग, जग के छोर।

विश्व - स्रष्टा की सृष्टि
तुम्हारी ही आज्ञा का फल ,
और करुणा की वृष्टि ,
तुम्हारे मानस की हलचल ?

आशा का आलोक तुम्हारे वक्षस्तल में ,
अभिलाषा है छिपी तुम्हारे चल अञ्चल में !
ओ, अशान्ति के अग्र-दूत ! ओ, शान्ति-विधायक !
ओ, वसन्त के विभव ! मनोभव के वर शायक !

ओ स्रष्टा के जनक ! स्वभू के प्रथम प्रवर्तन !
ओ त्रिनेत्र की वह्नि ! काल के अकृप कर्तन ?
मारुत के उद्वेग ! भूमि के कम्प अकारण !
वन्या के उन्माद ! प्रलय के पूर्व-प्रतारण !

ओ अनन्त के अन्त ! सान्त के आदि, उपासक !
जल, स्थल, अम्बर, वह्नि, व्योम के भैरव शासक !

अभिलाषा ने तो कितने
जादू के खेल रचाए
आबद्ध तुम्हें करने को,
तुम बन्धन में कब आए ?

तुमको तो आँख-मिचौनी
का खेल बहुत है प्यारा !
तुम आ आकर ले जाते
प्राणों का एक सहारा !

तुम कभी लहर में जाकर
उसको कल्लोल बनाते,
सरिता तक जाकर उससे
कुछ धीरे से कह आते !

तुम्हारे चरणों में
न जाने कब से है लयमान
हमारा अपनापन,
न दो मुझको फिर से छविमान !

तुम्हारी मादक तान,
कवि-हृदय की पाकर पहचान,
वही था स्वर्ण-बिहान,
दे गई जब सोने का गान।

तुम्हीं से तो अनजान
हृदय ने सीखा करना प्रेम,
तुम्हीं में है कल्याण!
निहित था जग का सारा क्षेम।

तुम्हारे नयनों में
प्रणय का पहला-प्रादुर्भाव,
तुम्हीं से अन्तर का
हो सका मुझसे नहीं दुराव?

तुमसे भावों के सोते
अहरह असंख्य बहते हैं,
ये दुनियाँ वाले तुमको
फिर क्यों अभाव कहते हैं?

तुम्हारे बाणों से
न जाने कितने बिंधे अजान,
तुम्हारे गानों से
न जाने कितने जगे बिहान!!

तुम्हारा ही उद्भव
विश्व का प्रथम चरण अम्लान ,
हृदय का शुचि सम्भव ,
तुम्हारी ही छाया का दान !

तुम्हारा ही निस्वन
वज्र का बन करके निर्घोष ,
कँपा देता तन मन ,
कभी भर देता मन में रोष !

तुम्हारी चितवन में
सहस्रों हैं बिच्छू के डङ्क ,
तुम्हारी उलझन में
बिछे शत-प्रलयों के पर्य्यङ्क !

विश्व के कण कण में
तुम्हारा ही छाया आतङ्क ,
विश्व - समराङ्गण में
विचरते बनकर तुम निःशङ्क !

अरे, कितने निष्ठुर
तुम्हारे होते हैं सब कार्य्य !
तुम्हारा रहना भी
प्रलय तक रहता है अनिवार्य्य !

तुम्हारी घटनाओं का चक्र
जलधि-सा अति अनन्त गम्भीर,
भृकुटि-निर्मित भव में,
पहुँच पाया है नहीं समीर !

शत शत शिरीष से कोमल
प्राणों में वास तुम्हारा,
आशङ्का का चल अञ्चल
अग्रिम आभास तुम्हारा !

निर्मेघ ग्रीष्म का हँसता
पावन प्रभात जब आता
मन में, तू बादल बन कर
पावस-सा मँड़रा जाता !

कुसुमों के कोमल उर में
मकरन्द वसन्त बिछाता,
तू मलयानिल बनकर के
कण कण को बिखरा जाता !

भावों के अम्बर-तल में
कल्पना-घटा घिर आती,
जब गन्धवाह के उर पर
स्वर्गिक प्रासाद बनाती !

संशय के चपल तुरग पर
द्रुत उड़ते तुम आ जाते,
लघु पदाघात से पल में
भू - शायी उसे बनाते !

× × ×

विश्व के विविध विधान,
तुम्हारी क्रीड़ा के सन्धान;
युगों के विविधाख्यान
तुम्हारे ही होते यश - गान !!

× × ×

यौवन की गूढ़ पहेली
के तुम्हीं एक मर्म्म-स्थल !
चिर विरह-व्यथा के पथ के
बस तुम्हीं एक शुभ सम्बल !!

गम्भीर गाढ़ रँग देकर
सन्ध्या जब चित्र बनाती,
तृण, तरु, मरु-कण, मानस को
निज अङ्कम में लपटाती;

उन चित्रों में तुम होकर
तब झाँक झाँक छिप जाते !
इस भाँति हमारे ऊपर
तुम अतिशय प्रेम जताते !

जिस ओर दृष्टि है जाती
सर्वत्र तुम्हीं दिखलाते,
सच्चिदानन्द ! हम तुमको
सादर हैं शीश झुकाते !

हे स्वतः पूर्ण ! सर्वात्मन् !
करुणा - धारा बरसाओ,
तुम इस अपूर्ण मानव को
आकर परिपूर्ण बनाओ !

गीत

ले चल नाविक, उस दूर देश !
जिस ठौर न कोई अपना हो ,
केवल दुख, सुख बस सपना हो ,
युग युग तक मौन कलपना हो—
हो नहीं स्वजन तक का प्रवेश !
ले चल नाविक !—!

सन्ध्या की सस्मित लाली में ,
मधुमय निशीथ अँधियाली में ,
आवे नभ-तरु की डाली में—
क्षण भर रोता, हँसता निशेश !
ले चल नाविक !—!

कोलाहल हों उठते पल, छन ,
आशङ्का का उत्थान, पतन ,
भ्रमरों के हों व्याकुल गुञ्जन—
मँडराते ले नव युग-सँदेश ।
ले चल नाविक ! उस दूर देश !

७-'४

गीत

यह उपवन में कैसा विकास ?
विटपों की डाली डाली में
सुमनों का कैसा तरल हास ?
यह उपवन में—?

खग-कुल का यह कलरव कोमल
देता जीवन के सुख-दुख दल,
बेलियाँ-विटप प्रतिपल चञ्चल
डाले कन्धों में प्रेम-पाश !
यह उपवन में—?

फैला अछोर अम्बर विशाल,
चलता रहता नित मदिर-चाल,
धारण कर अगणित रूप-ज्वाल,
कुछ छिपा, और कुछ कर प्रकाश !
यह उपवन में कैसा विकास ?

८-'४

संशोधन

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१२	६	जागृति	जाग्रति
४३	१	दिया	छिपा
७७	११	बलित	वलित
९०	६	गत	गात
९१		२-३-'४०	२-'४०
१३३	१६	नब	नव
१३४		'४	'३६